प्रथमावृत्ति	प्रतियाँ	३०००	वीर सं० २४९०
द्वितीयावृत्ति	प्रतियाँ	११००	वीर स० २४९५
तृतीयावृत्ति	प्रतियाँ	११००	वीर स० २४९८
चतुर्थावृत्ति	प्रतियाँ	१५००	वीर स० २५०२
पंचमावृत्ति	प्रतियाँ	२१००	वीर स० २५०६

मूल्य २=००

मुद्रक
मगनलाल जैन तथा प्रविणचंद्र ह. शाह
अजित मुद्रणालय,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

❋ निवेदन ❋

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्वारा रचित इस 'द्रव्य-संग्रह' में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंका निरूपण है। धर्म-जिज्ञासुओंको सर्व शास्त्रोंके रहस्यको खोलने वाली द्रव्यानुयोग प्रवेशिकाके समान इस पाठ्य-पुस्तककी बहुत आवश्यकता थी। जैनदर्शन शिक्षण कक्षामें इस पुस्तकका हिन्दीमें प्रकाशन करानेकी बहुत जोरोंसे मांग थी, अतः परोपकारी पू० स्वामीजीकी पुनीत छत्रछायामें पुष्प नं. ९१ के रूपमें यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

प्रथम अध्यायमें छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, दूसरेमें नौ पदार्थ और तीसरेमें मोक्षमार्गका वर्णन है। भावार्थमें गूढ रहस्यको अति स्पष्ट करनेवाले उपयोगी शास्त्राधार दिये हैं अतः तत्त्वज्ञानके अभ्यास व स्वाध्यायके लिये यह सारभूत उत्तम सामग्री है।

तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) की भाँति यह द्रव्य-संग्रह भी प्रायः प्रत्येक जैन पाठशालामें पढाया जाता है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वके ज्ञानार्जनके इच्छुकोंको अभ्यासमें उपयोगी हो ऐसी शैलीसे यह नया संस्करण तैयार किया गया है।

इस शास्त्रकी विशिष्टता यह है कि जिन जिन गाथाओंमें नयोंका वर्णन किया गया है वहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंका वर्णन एक ही साथ दिया गया है।

साधक दशामें भूमिकानुसार चारित्रगुणकी एक ही पर्यायमें सराग-वीतराग ऐसे दो अंश होते हैं। 'स्वाश्रितो निश्चय' इस नियमानुसार अकषाय द्रव्यस्वभावके आश्रयके बलसे जितनी वीतराग दशा प्रगट होती है उतने ही अंशमें निश्चयधर्म प्रगट होता है, जो चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है।

और 'पराश्रितो व्यवहार' इस नियमके अनुसार उस उस गुणस्थानमें आंशिक शुद्धिके साथ भूमिकानुसार जितना शुभभाव होता है उसको व्यवहार कहा जाता है। वह जानने योग्य है, किन्तु आश्रय करने योग्य नहीं है।

इस द्रव्य-संग्रहके साथ ही साथ इस शास्त्रके कर्त्ता द्वारा रचित 'लघु द्रव्य-संग्रह' अर्थ सहित दिया गया है।

धर्म-जिज्ञासुओंमें सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यास करनेकी भावना बढ़ रही है, इसलिये ऐसी पाठय-पुस्तकका आत्मसम्मुख होनेकी भावनासे आप अच्छी तरह अभ्यास करें ऐसी हमारी भावना है।

इस शास्त्रके कर्ता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव लगभग ११ वीं शताब्दीमें इस भरत क्षेत्रमें विचरते थे।

इस ग्रंथके प्रकाशन-कार्यमें तथा अनुवादकी अच्छी तरह जाँच करने आदि सर्व कार्योंमें सहायता देने वाले ब्र० गुलाबचन्दजी-का आभार मानता हूँ।

श्री पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ (मालिक जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर) ने उत्साहपूर्वक हिन्दी अनुवाद कर दिया है, अत: उनका आभार मानता हूँ।

भाद्रपद ५ ऋषि पंचमी
वीर सं० २४९०
वि० सं० २०२०

नवनीतलाल सी० जवेरी
प्रमुख—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

पांचवीं आवृत्तिका

* निवेदन *



अनेक पाठशालाओं एवं धार्मिक शिक्षण-शिबिरोंमें यह 'द्रव्य-संग्रह' पाठ्य-पुस्तकके रूपमें चलती है। जिज्ञासुओंकी ओरसे इसकी विशेष मांग होनेसे यह पांचवी आवृत्ति प्रकाशित की जा रही है। जिज्ञासु जन इसका विशेष लाभ लेकर आत्महित साधें ऐसी भावना है।

सोनगढ
आसो सुद दशाम

साहित्य-प्रकाशन समिति
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



विषय-परिचय

नक्शे (चार्ट) और वर्णन





॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित

द्रव्य-संग्रह

मंगलाचरण

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥ १ ॥

जीवमजीवं द्रव्य जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम् ।
देवेन्द्रवृन्दवन्द्यं वन्दे तं सर्वदा शिरसा ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(येन जिनवरवृषभेण) जिन जिनवर ऋषभ भगवान ने (जीवम् अजीवम् द्रव्यम्) जीव और अजीव द्रव्य का (निर्दिष्टम्) वर्णन किया है, (देवेन्द्रवृन्दवन्द्यं) देवेन्द्रों के समूह[1] से वन्दनीय (तम्) उन–प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को मैं [श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तिदेव] (सर्वदा) सदा (शिरसा) नत-मस्तक होकर (वन्दे) वन्दना करता हूं ।

१—भवनवासी देव के ४०, व्यन्तर देव के ३२, कल्पवासी देव के २४, ज्योतिषी देव १ चन्द्रमा और १ सूर्य तथा मनुष्य से १ चक्रवर्ती तथा तिर्यंच के १ सिंह, इस प्रकार एक सौ इन्द्र हैं ।

[illegible]—(१) 'जिनवरवृषभेण' इस शब्द के दो अर्थ हैं [१] इस काल के प्रथम तीर्थंकर 'श्री ऋषभदेव भगवान ने,' [२] 'समस्त तीर्थंकर देवों ने।' यह इस प्रकार है कि—

जिन = मिथ्यात्व[1] और रागादि को जीतने वाले (असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनि को 'जिन' कहा जा सकता है।)

जिनवर = जो 'जिनों' में श्रेष्ठ होते हैं वे 'जिनवर' हैं श्री गणधर-देव भी 'जिनवर' कहे जाते हैं।

जिनवर वृषभ = जो जिनवरों में भी श्रेष्ठ होते हैं वे 'जिनवरवृषभ' हैं। प्रत्येक तीर्थंकर भगवान् 'जिनवरवृषभ' (भावापेक्षा से) कहे जाते हैं।

(२) द्रव्यं—

प्रश्न—द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न—गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और उसकी समस्त अवस्थाओं में रहता है वह गुण है।

(३) जीवं—अजीवं—

[१] जिसका लक्षण 'सहज शुद्ध चैतन्य' है वह जीव द्रव्य है।

[२] उससे विलक्षण (पुद्गलादि पाँच भेद वाला) अजीव द्रव्य है।

[३] जीव-अजीव का यथार्थ ज्ञान न होने से ही संसारी प्राणियों को स्व-पर का विवेक नहीं हो पाता, और इसी लिए वे आत्मस्वरूप की प्राप्ति से वंचित रहते हैं, यही कारण है कि वे दुःखी हैं।

१—जीव के श्रद्धागुण की विपरीत अवस्था को मिथ्यात्व कहते हैं।

[४] इसलिये जो कल्याण के मार्ग पर चलना चाहते हैं उन्हें स्व–पर का यथार्थ विवेक प्रगट करने के लिये जीव अजीव का यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। शास्त्र का यह प्रयोजन है कि जीव निज आत्मरूप उपादान (निजशक्ति) कारण से प्राप्त होने वाला अनन्त सुख प्रकट करे।

(४) शिरसा वन्दे —

निज शुद्धात्मा का आराधन भावनमस्कार है, और वह जिनेन्द्र भगवानकी निश्चयस्तुति वन्दना–प्रणाम–नमस्कार है। (देखिये, श्री समयसार गाथा ३१–३२–३३ तथा टीका) धर्मी साधक जीव का जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करने का शुभ राग व्यवहार[1] नमस्कार है। ऐसा वन्द्य-वन्दक भाव छट्ठे गुणस्थान तक होता है॥ १॥

जीवद्रव्य के नौ अधिकार

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥
जीवः उपयोगमयः अमूर्तिः कर्त्ता स्वदेहपरिमाणः ।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः सः विस्रसा ऊर्ध्वगतिः ॥ २ ॥

१—यथार्थ का नाम निश्चय है, और उपचार का नाम व्यवहार है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार ७, पृ० २८३ देहली.) सत्य निरूपण निश्चय है और उपचार–निरूपण व्यवहार है। निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र (चारों अनुयोगों में) ऐसा ही लक्षण है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, अधिकार ७, पृष्ठ ३६५–६६)

अन्वयार्थ·—(स) वह [जीव] (जीवः) प्राणों से जीता है, (उपयोगमय·) उपयोगमय है, (अमूर्ति) अमूर्तिक है, (कर्ता) कर्ता है, (स्वदेहपरिमाण·) अपने छोटे-बड़े शरीर-प्रमाण में रहने वाला है, (भोक्ता) भोक्ता है, (संसारस्थः) संसार मे रहने वाला है, (सिद्ध·) सिद्ध है, (विस्रसा ऊर्ध्वगति·) और [अग्नि की ज्वाला की भांति] स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

भावार्थः—(१) नौ अधिकार—इस गाथा में जीव के नौ अधिकारों के नाम दिये गये हैं।

(२) जीव-अजीव का ज्ञान पहले तो दुःख दूर करने के लिये स्व-पर का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि यदि स्व-पर का ज्ञान न हो तो अपने को पहचाने विना वह अपना दुःख कैसे दूर करेगा?

अथवा स्व-पर को एकरूप जानकर यदि अपना दुःख दूर करने के लिये पर का उपचार करे तो उससे अपना दुःख कैसे दूर होगा? अथवा अपने से भिन्न-ऐसे पर मे यह जीव अहंकार-ममकार करे तो उससे दुःख ही होगा। इससे स्पष्ट है कि स्व-पर का ज्ञान होने पर दुःख दूर होता है। स्व पर का ज्ञान जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है, क्योंकि स्वयं जीव है और शरीरादि अजीव हैं। जब इनके लक्षणादि के द्वारा जीव-अजीव की पहचान होती है तभी स्व-पर की भिन्नता भासित होती है, इसलिये जीव-अजीव को जानना[1] चाहिये। इसलिये ३ से १४ वीं गाथा तक जीव के नौ अधिकारों का वर्णन किया है, तत्पश्चात् १५ से २२ वीं गाथा तक अजीवाधिकार का वर्णन किया है। इनके जाने बिना जीव अजीव की भिन्नता की यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती।

१—देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार ४, पृष्ठ ११२

(३) हेय—उपादेयः—शुद्धनयाश्रित[1] जीवस्वरूप उपादेय (ग्रहण करने योग्य, आदर के योग्य) है, शेष सब हेय[2] (छोड़ने के योग्य) हैं। इस प्रकार हेय-उपादेयरूप भावार्थ समझना चाहिये।

जीव के नौ अधिकार प्रारम्भ करने से पूर्व इस शास्त्र में कथित 'नय' सम्बन्धी भूमिका—

इस शास्त्र की विशेषता

१—इस शास्त्र के कथन की विशेषता यह है कि—जिन जिन गाथाओं मे 'नय' कहे हैं उन उन गाथाओं में निश्चय और व्यवहार नयों का कथन एक ही साथ किया है, इसलिये उसका स्वरूप सक्षेप मे यहा दिया जाता है।

नय क्या है?

२—सम्यक् श्रुतज्ञानप्रमाण के अवयव को (अंश को विकल्प को) नय कहा जाता है। 'नय' का धात्वर्थ नी = नय अर्थात् अपने ज्ञान को वस्तु[3] के यथार्थ स्वरूप की ओर ले जाना। वस्तुग्राहक 'प्रमाण' है, एकदेश ग्राहक 'नय' है।

१—देखो वृ. द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ९. इस गाथा की टीका मे कहा है कि शास्त्रों की व्याख्या करने मे शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ—यह पाचो प्रकार जानना चाहिये।

२—नियमसार गा. ३८-५० तथा उनकी टीका। निज शुद्ध अन्त.तत्त्व उपादेय है, अन्य समस्त भाव हेय हैं। पृष्ठ ७८ तथा १०५।

३—प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है, इसलिए वस्तु का ज्ञान तो प्रमाण है, और उसके एक भाग को जाननेवाला नय है।

क्या मिथ्यादृष्टि के नय होते हैं?

३—मिथ्यादृष्टि का श्रुतज्ञान मिथ्या होता है, इसलिए उसके सच्चे नय नहीं होते उसके श्रुतज्ञानके अंश को 'कुनय' कहा जाता है।

नय का तात्पर्य

४—नय का तात्पर्य ऐसा है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उनमें से किसी धर्म की मुख्यता करके अविरोधरूप से साध्य पदार्थ को जानना।

क्या पहले अकेला व्यवहारनय होता है?

५—नहीं, ऐसा नहीं होता, क्योंकि आगम का वचन ऐसा है कि—"निरपेक्षा नयाः मिथ्या., सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत" (आप्तमीमांसा, श्लोक १०८) निश्चयनय सापेक्ष ही व्यवहारनय होता है। निश्चय[1] की अपेक्षा सहित ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है। इस लिये यह मान्यता मिथ्या है कि पहले केवल व्यवहारनय होता है और फिर निश्चयनय प्रकट होता है।

जिनवाणी की पद्धति

६—दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की[2] जिन भगवंतों की वाणी की पद्धति है। भगवान का कथन एक नयाश्रित नहीं होता ऐसी दो नयाश्रित व्याख्या सम्यग्ज्ञानरूपी[3] निर्मल ज्योतिकी जननी है। शास्त्राभ्यास होते हुये भी जिसे सम्यग्ज्ञान प्रकट न हो उसने वास्तव में जिनवाणी की पद्धति का आशय ही नहीं जाना है।

१—श्री समयसार गाथा ३०६-३०७ भावार्थ पृष्ठ ४६३, द्वितीयावृत्ति (गुजराती)

२—नियमसार कलश २, पृष्ठ २

३—पंचास्तिकाय कलश २, पृष्ठ २

७—इन दो नयों के नाम 'निश्चय' और 'व्यवहार' हैं। यह दो नाम सूचित करते हैं कि उनके स्वरूप एक-दूसरे से भिन्न-विरुद्ध-प्रतिपक्ष हैं। यदि ऐसा न होता तो 'नयों' को भिन्न-भिन्न भाववाचक नाम नहीं दिये जाते।

नयज्ञान की और भेदज्ञान की आवश्यकता

८—जीव को अनादि से स्व-पर की एकत्वरूप श्रद्धा से मिथ्यादर्शन है; स्व-पर के एकत्वज्ञान से अज्ञान-मिथ्याज्ञान है; और स्व-पर के एकत्वाचरण से मिथ्याचारित्र है।

९—समस्त दुःखों का मूल कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान चारित्र है। इन सभी दुःखों का अभाव करने के लिये उसे दो प्रकार का भेदज्ञान कराया जाता है।

पहले प्रकार का भेदज्ञान

जीव अपने गुणों और पर्यायों से एक है, अभिन्न है और परद्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों से अत्यन्त पृथक् है भिन्न है। अर्थात् जीव स्वद्रव्य से-स्वक्षेत्र से स्वकाल से और स्वभाव से है इसलिये परद्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अत्यन्त भिन्न है। इसलिये उस अपेक्षा से परद्रव्य, उसके गुण पर्यायों के साथ का सम्बन्ध मात्र व्यवहारनय से-संयोगरूप या निमित्तरूप है, ऐसा ज्ञान कराया जाता है।

इस दृष्टि से परद्रव्यों के साथका सम्बन्ध असद्भूत-असत्य होने से उस सम्बन्ध का ज्ञान कराने वाले नय को 'व्यवहारनय' कहा जाता है। और जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय जो कि अपने हैं, उन्हें पर से भिन्न बताने के लिये 'निश्चयनय' कहा जाता है।

दूसरे प्रकार का भेदज्ञान

१०—किन्तु इतना सा भेदज्ञान करने मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं हो जाता क्योंकि अनादिसे जीवकी पर्याय 'अशुद्ध' है। वह अपने मे होती है इस अपेक्षा से उसे 'निश्चय' का विषय कहा है, तथापि उसी को द्रव्य के त्रैकालिक शुद्ध-स्वरूप से भिन्न बताने के लिये तथा गुणभेद और पर्यायभेद के आश्रय से राग उत्पन्न होता है इसलिये उन गुणभेदों को शुद्ध पर्यायों को और अशुद्ध पर्यायों का—उसका आश्रय छुड़ाने के लिये 'व्यवहार' कहा जाता है। और जीवद्रव्य का त्रैकालिक शुद्ध—स्वरूप जोकि ध्रुव है, उसे 'निश्चय' कहा जाता है। क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म का प्रारम्भ, उसकी स्थिरता, वृद्धि और पूर्णता होती है।*

११—इसलिये इस शास्त्र की भिन्न-भिन्न गाथाओं में नयों का स्वरूप दिया है, उसे ठीक से समझने की आवश्यकता है।

१२—यह दोनों प्रकार के भेदज्ञान तब हुए कहलायेंगे जब जीव अपने ध्रुव—स्वभाव का आश्रय लेकर धर्म को प्रगट करे। इस प्रकार अपूर्व—धर्म जीव के अपने आश्रय से प्रकट होता है। उस समय श्रद्धा की जो पर्याय प्रकट होती है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। और ज्ञानगुण की जो शुद्ध पर्याय प्रकट होती है उसे भावश्रुतज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह भाव-श्रुतज्ञान अवयवी है और सम्यक्नय उसके अवयव अर्थात् अंश हैं।

१३—'व्यवहारनय' का ज्ञान कराने का प्रयोजन यह है कि—जो सीधे ही सिंह के स्वरूप को न समझ सके उसे सिंह

---

*देखो, श्री समयसार—रायचन्द्र ग्रंथमाला, जयसेनाचार्य टीका। गाथा ५७, पृष्ठ १०१, गाथा १०२ पृष्ठ १६७, गाथा ११३ से ११५ पृष्ठ १७९, गाथा १३७-३८ पृष्ठ १९८।

के स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्ली के स्वरूप के द्वारा सिंह के यथार्थ स्वरूप की ओर ले जाया जाता है, इसी प्रकार जिसे सीधे ही वस्तु का यथार्थ समझ मे नहीं आ सकता उसे वस्तुस्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की ओर ले जाया जाता है। इसलिये उसे परमार्थ (निश्चय) का प्रतिपादक मानकर स्थापित किया जाता है।

१४—तथापि (१) वह अनुसरण के योग्य नहीं है (२) उसके आश्रय से राग उत्पन्न होता है, (३) निर्विकल्पता नहीं होती, इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान व्यवहार का आलम्बन करवाते हैं, किन्तु यह समझना चाहिये कि वे उसका आलम्बन छुडवाकर परमार्थ (निश्चय) नयका आलम्बन करवाते हैं।

१५—इसलिये व्यवहारनय को निषेध्य और निश्चयनय को उसका निषेधक कहा जाता है ॥ २ ॥

१. जीवाधिकार

तिक्काले चदुपाणा इंद्रियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥ २ ॥
त्रिकाले चतुःप्राणा इन्द्रियं बल आयुः आनप्राणश्च ।
व्यवहारात् सः जीवः निश्चयनयतः तु चेतना यस्य ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(व्यवहारात्) व्यवहारनय से, जिसके (त्रिकाले) भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में (इन्द्रियम्), इन्द्रिय, (बलम्) बल, (आयु) आयु, (च) और (आनप्राणः) श्वासोच्छ्वास (चतुःप्राणाः) यह चार प्राण होते हैं, (तु) और (निश्चय-

नयतः) निश्चयनय से (यस्य) जिसके (चेतना) चेतना होती है (सः जीवः) वह जीव है।

भावार्थ (१) जीव के व्यवहार नय से प्राण जीव के व्यवहारनय से अर्थात् संयोग-रूप से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास–यह चार जड़ प्राण संसार दशा में होते हैं। यह चार प्राण पुद्गल द्रव्य की स्कंधरूप पर्याय है। पुद्गल द्रव्य जीव से सब प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अत्यन्त भिन्न है। जड़ प्राण संयोगरूप होने से अनित्य हैं।

(२) जीव के निश्चयनय से प्राण—जीव के निश्चय नय से अर्थात् वास्तव मे सदा चेतना प्राण है। इस चेतना प्राण के कारण जीव यथार्थ मे अनादि से अनन्तकाल तक जीता है। यह चेतना प्राण शाश्वत होने से नित्य है।

(३) निश्चयनय व्यवहारनय का स्वरूप—नयों का स्वरूप भूमिका मे पेज १ से १५ तक दिया गया है। उसे पढ़ लेना चाहिये। यद्यपि यथार्थ मे जीव सदैव चेतना (भाव) प्राण से जीता है, तथापि संसार दशा मे व्यवहारजीवत्व के कारणभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से 'व्यवहारनय' से जीता है–ऐसा द्रव्यप्राणों के संयोग का ज्ञान कराने के लिये कहा जाता है। वे द्रव्यप्राण किंचित मात्र भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य से बने हुए हैं।*

(४) दोनों नय एक ही साथ–इन दोनों नयों के विषयों का परस्पर विरोध होने पर भी, उन विषयों के एक साथ रहने में विरोध नहीं है।

---

* प्रवचनसार गाथा १४७, पृष्ठ २५६–५७.

(५) जीव के पौद्गलिक प्राणों की संतति का हेतु-संसारी जीव जब तक देहप्रधान विषयोंका ममत्व नहीं छोड़ता तब तक वह पुनः पुनः अन्य अन्य प्राण धारण करता है। इसलिये जीव यदि उपयोगमात्र आत्मा को ध्याये तो प्राण उसका अनुसरण कैसे करेंगे? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता।)[1]

तात्पर्य—जीवद्रव्य से पुद्गल विपरीत है, इसलिये अनंत दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्यादि अनन्तगुण-स्वभावमय निज परमात्मतत्त्व से द्रव्यप्राण भिन्न हैं, ऐसी भावना करना चाहिये।[2]

प्राणों का कोष्ठक

व्यवहारनय से जीव के कितने प्राण होते हैं?—

जीव	इन्द्रिय	बल	आयु	श्वास	कुल प्राण
एकेन्द्रिय-	स्पर्शन	काय	,,	,,	४
द्वीन्द्रिय-	,, रसना	,, वचन	,,	,,	६
त्रीन्द्रिय-	,, ,, घ्राण	,, ,,	,,	,,	७
चतुरिन्द्रिय	,, ,, ,, चक्षु	,, ,,	,,	,,	८
पंचेन्द्रिय असंज्ञी	,, ,, ,, ,, कर्ण	,, ,,	,,	,,	९
पंचेन्द्रिय संज्ञी	,, ,, ,, ,, ,,	,, मन ,,	,,	,,	१०

२. उपयोगाधिकार

(दर्शनोपयोग के भेद)

उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥ ४ ॥

१—प्रवचनसार गाथा १५०-५१, पृष्ठ २५९-६०-६१.
२—प्रवचनसार गाथा १४७, श्री जयसेनाचार्य की टीका

उपयोगः द्विविकल्पः दर्शनं ज्ञानं च दर्शनं चतुर्द्धा ।
चक्षुः अचक्षुः अवधिः दर्शनं अथ केवलं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(उपयोग) उपयोग (द्विविकल्प) दो प्रकार का है—(दर्शनं ज्ञानं च) दर्शन और ज्ञान। (दर्शनं) इसमें से दर्शनोपयोग (चतुर्द्धा) चार प्रकार का (ज्ञेयं) जानना चाहिये—(चक्षु अचक्षु अवधि. अथ केवल दर्शनं) चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ।

भावार्थः—(१) उपयोग–जीव चेतन द्रव्य है। ज्ञान दर्शन उसके गुण हैं। उसका एक नाम चैतन्य[1] है। चैतन्य का अनुसरण करके होने वाले आत्मा के परिणाम को 'उपयोग'[2] कहा जाता है।

(२) उपयोग के भेद–उपयोग के दो भेद हैं। दर्शन और ज्ञान। इनमें से दर्शनोपयोग के चार भेद हैं.—चक्षुदर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ।

(१) चक्षुदर्शन—नेत्र के सम्बन्ध से होने वाले मतिज्ञान से पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को चक्षु-दर्शन कहते हैं ।

(२) अचक्षुदर्शन—नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों और मन के सम्बन्ध से होनेवाले मतिज्ञान से पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं।

१–चैतन्य–विशेष ज्ञानगुण है, चैतन्य–सामान्य दर्शनगुण है ।

२–वास्तव में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम क्षय के अनुसार उपयोग नहीं होता, इसलिए यह कहना कि–'तदनुसार हुआ है' यह निमित्तकारण का ज्ञान करानेके लिये उपचार है।

[३] अवधिदर्शन—अवधिज्ञान से पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को अवधिदर्शन कहते हैं।

[४] केवलदर्शन—केवलज्ञान के साथ प्रवर्तमान सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को केवलदर्शन कहते हैं। इस विषय से सम्बन्धित गाथा ४३–४८ देखिये। ४३ वीं गाथा और उसके भावार्थ मे दर्शनोपयोग की व्याख्या दी गई है।

तात्पर्य—जिनेन्द्रकथित[2] समस्त दर्शन-ज्ञान के भेदों को जानकर जो पुरुष पर-भावों का परिहार करके निजस्वरूप मे स्थित होता हुआ, शीघ्र ही चैतन्य-चमत्कार मात्र तत्त्व मे बैठ जाता है, गहराई मे उतर जाता है वह निर्वाण-सुख को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥ ५ ॥

ज्ञानं अष्टविकल्पं मति श्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि ।
मनःपर्ययः केवलं अपि प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(मतिश्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि) मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, अवधिअज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, (अपि) और (मनःपर्यय.) मन पर्ययज्ञान तथा (केवल) केवलज्ञान, इस प्रकार (ज्ञान) ज्ञानोपयोग (अष्टविकल्पं) आठ प्रकार का है, (च) और

१—श्रुतदर्शन और मन पर्यय दर्शन नहीं होते, क्योंकि श्रुत और मन पर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होते हैं।

२—देखिये, नियमसार कलश १७, पृष्ठ २६-२७.

वह ज्ञानोपयोग (प्रत्यक्षपरोक्षभेदं) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

१—भेदों के प्रकार ज्ञानोपयोग के सब मिलाकर आठ भेद हैं। इनमें से कुमति और कुश्रुत सभी मिथ्यादृष्टियों के होते हैं। सभी मिथ्यादृष्टि देवों, देवियों तथा नारकियों के कुअवधि भी होता है। किसी-किसी मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यंच के भी कुअवधि होता है। सम्यक् मति और श्रुत दो-दो ज्ञान सभी छद्मस्थ सम्यक्दृष्टियों के होते हैं। अवधिज्ञान किसी-किसी छद्मस्थ सम्यक्दृष्टि के होता है। मनःपर्ययज्ञान किसी किसी भावलिंगी मुनि के होता है। तीर्थंकर देव को मुनिदशा में और गणधर देव को यह ज्ञान नियम से होता है। केवलज्ञान केवली और सिद्ध भगवन्तों के होता है।

२—मिथ्याज्ञान-अज्ञान—कुज्ञान—मिथ्यादृष्टियों का मतिश्रुतज्ञान अन्य ज्ञेय में लगता है, किन्तु प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने में नहीं लगता,—यह ज्ञानका ही दोष है, इसलिए उसे 'मिथ्याज्ञान' कहा है। उस ज्ञान को तत्वज्ञान का अभाव होने से 'अज्ञान' कहा है, तथा वह अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं करता इसलिये उसे ही 'कुज्ञान' कहा है।

३—प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद भी हैं।

तात्पर्य—यह है कि निज शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणलक्षण—एकाग्रध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय होने पर जो उत्पन्न होता है वही समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को सम्पूर्णतया जानने वाला केवलज्ञान[१] प्रगट करने योग्य

१—केवलज्ञान—दर्शन क्षायिक भाव में हैं, शेष दश उपयोग

है ऐसा समझना चाहिये। चौथी गाथा में जो तात्पर्य बताया है वह यहां भी लागू होता है ॥ ५ ॥

उपयोग जीव का लक्षण है ।

अट्ठचदुणाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दसणं णाणं ॥६॥
अष्ट चतुर्ज्ञानदर्शने सामान्यं जीवलक्षणं भणितम् ।
व्यवहारात् शुद्धनयात् शुद्धं पुनः दर्शनं ज्ञानम् ॥६॥

अन्वयार्थः—(व्यवहारात) व्यवहारनय से (अष्ट चतुर्ज्ञान-दर्शने) आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को (सामान्यं) सामान्य (जीवलक्षणं) जीव का लक्षण (भणित) कहा गया है, (पुनः) और (शुद्धनयात) शुद्ध निश्चयनय से (शुद्ध) शुद्ध (दर्शनं) दर्शन और (ज्ञानं) ज्ञान को ही जीव का लक्षण कहा गया है ।

भावार्थः—१—सामान्य लक्षण—यहाँ जो जीव का लक्षण व्यवहारनय से कहा है उसमे संसारी या मुक्त जीवों का पृथक् पृथक् कथन नहीं किया है, इसलिये 'सामान्य' है, एक यह कारण है। दूसरा कारण यह है कि 'शुद्ध ज्ञान-दर्शन' ऐसा कथन न करके ज्ञान-दर्शनोपयोग के 'सामान्यतया' भेद किये गये हैं, इसलिये उनमे से यथासंभव जिस जीव के जो लागू हो वह उस जीव का लक्षण समझना चाहिये ।

क्षायोपशमिक भावसे हैं । उन दश उपयोगों में जितना ज्ञान-दर्शन का अभाव है वह औदयिक भाव से है। गाथा ६ में कथित 'शुद्ध 'दर्शन ज्ञान' परमपारिणामिक भाव से है। (ज्ञानावरण दर्शनावरण और अनन्तराय इन तीन घाति कर्मो का उपशम नहीं होता, इसलिये ज्ञान-दर्शन-वीर्य औपशमिक भाव से नहीं होते) ।

२–उपयोग गाथा ४ से ६ तक मे 'उपयोग' का अर्थ ज्ञान–दर्शन का उपयोग समझना चाहिये। (उपयोग की व्याख्या चौथी गाथा के भावार्थ मे दी गई है।) चारित्रगुण की जो शुभोपयोग अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग अवस्था है वह यहाँ नहीं समझना चाहिए।

३–व्यवहारनय अभेद आत्मा में ज्ञान की पर्यायों के भेद करना सो 'व्यवहार' है। (देखिये, भूमिका) यहा अपनी पर्याय को 'व्यवहारनय' और गाथा ३ मे परसंयोगी पदार्थ को 'व्यवहारनय' कहा है।

४–निश्चयनय—शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय से 'शुद्ध अखंड केवलज्ञान तथा दर्शन जीव का लक्षण है। जीव का वास्तविक स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप है, इसलिये शुद्धनय से वह जीव का लक्षण है। यह लक्षण अपने द्रव्य से अभिन्न है इसलिये यह शुद्ध नय का विषय है। यह निश्चयनय[1] त्रैकालिक स्वरूप को बतलाता है। उसका विषय और व्यवहारनय[2] का विषय परस्पर (भाव से) विरोधी हैं। तथापि एक साथ रहने मे विरोध नहीं है, ऐसा वस्तु का अनेकान्तस्वरूप है। दोनों नयों के यथार्थ ज्ञान को सम्यक् श्रुतप्रमाण कहते हैं।

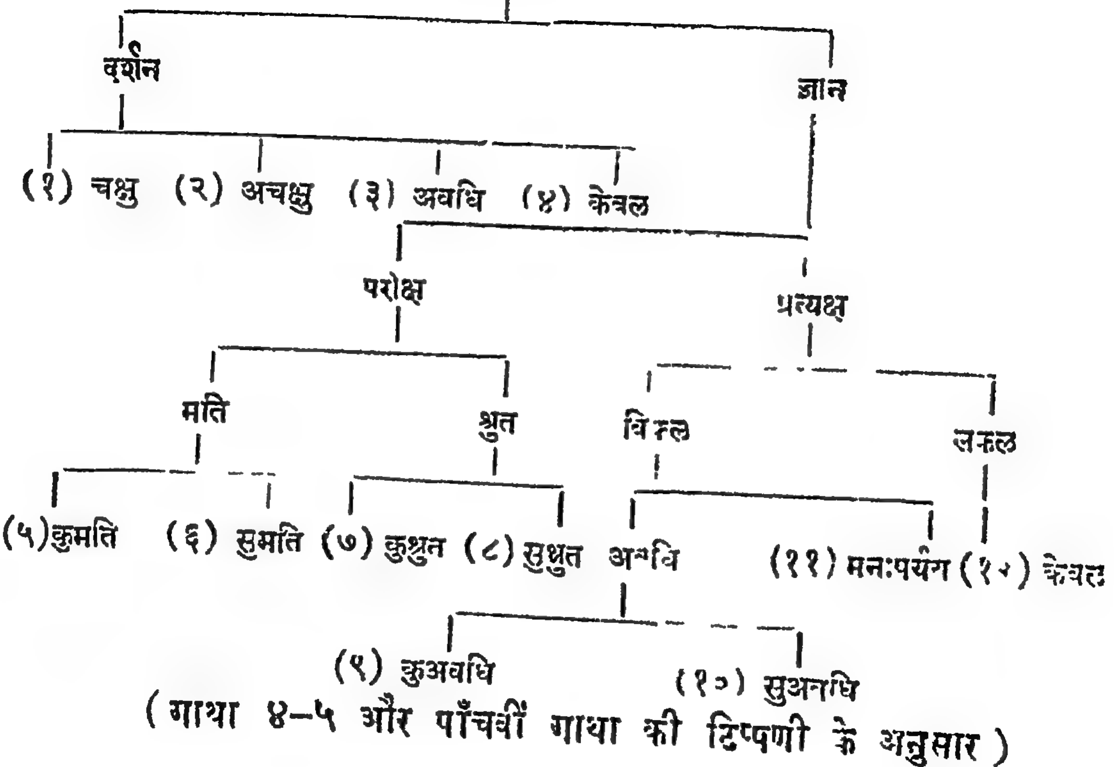
१–यह नय निषेधक है, और उसके द्वारा व्यवहारनय निषेध्य है।

२–केवलज्ञान-दर्शन प्रति शुद्धसद्भूत अर्थात् अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है। छद्मस्थ के अपूर्ण ज्ञानदर्शन अशुद्ध सद्भूत अर्थात् उपचरित सद्भूत व्यवहार है। कुमति-कुश्रुत और विभंग यह तीनों उपचरित असद्भूतव्यवहार हैं। देखिये वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ६, पृष्ठ १६।

भावार्थः—(१) छद्मस्थ के केवलज्ञान-दर्शनोपयोग नहीं होता और पर्याय के आश्रय से रागी के राग उत्पन्न होता है। तथा पर्याय मे से नई पर्याय उत्पन्न नहीं होती, वह त्रैकालिक द्रव्य में से होती है, इसलिए शुद्धनय के विषयभूत ऐसे अपने त्रैकालिक द्रव्यका आश्रय लेकर पहले अज्ञान दूर करना चाहिये और फिर स्वाश्रय की वृद्धि करके केवलज्ञान प्रगट करना चाहिये, यह इस गाथा का आशय है।

(२) उपयोग के भेद ज्ञानस्वभावभूत एक पद के भेद नहीं करते, किन्तु जीव जो स्वयं एक पद है उसका वे अभिनन्दन[1] करते हैं। उस एक पदके आश्रय से जीव धर्मका प्रारम्भ करके निर्वाण को प्राप्त होता है। गाथा ४–५ मे बताया गया तात्पर्य इस गाथा में भी लागू होता है ॥ ६ ॥

१—समयसार गाथा २०४ टीका (परमात्म प्रकाश गाथा १०५, श्री समयसार की गाथा २०४ आधाररूप में ली है। परमात्म प्रकाश गाथा १०७ में कहा है कि—मतिज्ञानादि पांच विकल्प रहित जो 'परम पद' है वह साक्षात् मोक्ष कारण है।)



(गाथा ४–५ और पाँचवीं गाथा की टिप्पणी के अनुसार)

३. अमूर्तिकत्व अधिकार

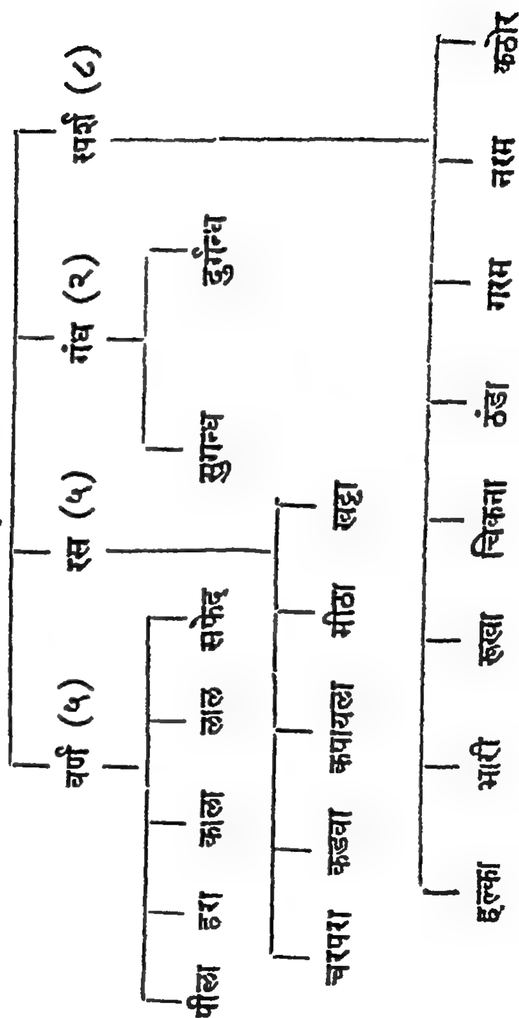
जीव निश्चयनय से अमूर्त होने पर भी व्यवहारनय से मूर्त कहा जाता है।

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥ ७ ॥
वर्णाः रसाः पंच गंधौ द्वौ स्पर्शाः अष्टौ निश्चयात् जीवे।
नो संति अमूर्तिः ततः व्यवहारात् मूर्तिः बंधतः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(निश्चयात्) निश्चयनय से (जीवे) जीवद्रव्य मे (वर्णाः रसाः पंच) पांच वर्ण, पांच रस (गंधौ द्वौ) दो गंध और (स्पर्शाः अष्टौ) आठ स्पर्श (न संति) नहीं होते (ततः) इसलिए जीव (अमूर्तिः) अमूर्तिक है, (व्यवहारात्) व्यवहारनय से जीव को (बंधतः) कर्मबन्धन होने से (मूर्तिः) मूर्तिक कहा है।

भावार्थः—(१) वर्णादिरहित—प्रत्येक जीव अनादि-अनन्त वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रहित है, इसलिए वह प्रति समय वास्तव मे अमूर्तिक (अरूपी) है। किन्तु संसार दशा मे अनादि से मूर्तिक पुद्गल कर्मों के साथ उसका बन्ध है इसलिये संयोग का ज्ञान कराने के लिये उसे मूर्तिक कहा जाता है, किन्तु ऐसा होने से वह सचमुच ही मूर्तिक नहीं हो जाता। यदि सचमुच ही जीव को मूर्तिक मान लिया जाये तो फिर जीव-अजीव का कोई भेद ही नहीं रहेगा।

(२) निश्चयनय-व्यवहारनय—[१] यहां पर निश्चयनय जीव की त्रैकालिक अमूर्तिकत्ता तो बतलाता है और व्यवहारनय पुद्गल-कर्म के साथ का अनादि सम्बन्ध बतलाता है। इन दोनों


पुद्गल की २० पर्यायें
वर्ण (५)
पीला
हरा
काला
लाल
सफेद
रस (५)
चरपरा
कड़वा
कषायला
मीठा
खट्टा
गंध (२)
सुगन्ध
दुर्गन्ध
स्पर्श (८)
हल्का
भारी
रूखा
चिकना
ठंडा
गरम
नरम
कठोर

नयों का विषय परस्पर विरोधी है, किन्तु उसके एक साथ रहने में विरोध नहीं है। तीसरी गाथा में पुद्गल-प्राणों के साथ का व्यवहार सम्बन्ध बतलाया है और यहां पुद्गल-कर्म के साथ का व्यवहार सम्बन्ध (क्षणिक सम्बन्ध) बतलाया है।

निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है और व्यवहार निश्चय-नय के द्वारा निषेध्य है।

(२) संसार-दशा में प्रत्येक जीव के इन दोनों नयों का विषय एक ही साथ होता है।

तात्पर्य—तीसरी गाथा का तात्पर्य यहां भी लागू होता है। 'पुद्गल कर्म मुझ से सर्वथा भिन्न है, इसलिये वह मुझे हानि-लाभ नहीं कर सकता'—ऐसा निर्णय करके अपने अमूर्तिक, त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव का आश्रय करने से धर्म प्रगट होता है, टिकता है, वृद्धि को प्राप्त होता है और पूर्ण होता है। तथा पूर्ण होने पर पुद्गल कर्म के साथ का आत्यंतिक वियोग होकर जीव सिद्ध पद को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

४. कर्त्ता अधिकार

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥
पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः ।
चेतनकर्म्मणां आत्मा शुद्धनयात् शुद्धभावानाम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(व्यवहारतः) व्यवहारनय से (आत्मा) आत्मा जीव (पुद्गलकर्मादीनां) पुद्गल कर्मादि का (कर्ता) कर्ता है (तु)

और (निश्चयत.) [अशुद्ध] निश्चयनय से (चेतनकर्मणां) चेतन कर्मों का कर्ता है। तथा (शुद्धनयात्) शुद्ध [निश्चय] नय से (शुद्धभावनां) शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शनस्वरूप चैतन्यादि भावों का कर्ता है।

भावार्थः—१-कर्तृत्व—कर्तृत्व और अकर्तृत्व[1] यह सामान्य-गुण छहों द्रव्यों मे है, इसलिये कर्तृत्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था का कर्ता है, और अकर्तृत्व गुण के कारण पर की अवस्था का कर्ता नहीं हो सकता। इसलिये जीव अपनी पर्यायें करता है, किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह पर का कुछ भी कर सकता हो।

२—जीव का कर्तृत्व—(१) चैतन्यस्वभावत्व के कारण कर्तृस्थित (कर्ता में रहनेवाली क्रिया का) ज्ञप्ति तथा दृष्टि का जीव ही कर्ता है। उसके सम्बन्ध मे रहनेवाला पुद्गल उसका कर्ता नहीं है, जैसे कि आकाशादि[2] नहीं हैं। चैतन्य के विवर्तरूप (पल्टारूप) संकल्प की उत्पत्ति जीव मे होती है इसलिये, (क) सुखाभिलाषारूप क्रिया का (ख) दुःख की उद्वेगरूप क्रिया का तथा (ग) अपने द्वारा चेतित (चिन्तन मे आनेवाले) शुभाशुभ भावों की रचना रूप क्रिया का जीव ही कर्ता है, अन्य नहीं। (२) शुभाशुभ कर्म के फलभूत इष्ट—अनिष्ट विषय—उपभोगक्रिया

१—प्रवचनसार गाथा ९५ पृष्ठ ११३

२—इष्टोपदेश की ३५ वीं गाथा मे जैसे सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' कहे गये हैं, वैसे ही यहाँ कर्म के उदय, क्षयोपशम, क्षय उपशमादि, इन्द्रिय, मन, नोकर्म सभी निमित्तों को 'यथाकाशादि' कहा है। पंचास्तिकाय गा० १२२, पृष्ठ १८३।

का सुख-दुःखस्वरूप स्वपरिणाम-क्रिया की भांति जीव ही कर्ता है, अन्य[1] नहीं।

इससे यह समझाया है कि उपरोक्त असाधारण कार्यों के द्वारा पुद्गल से भिन्न आत्मा अनुमान किया जा सकता है। (४) जीव विकार या अविकारपने से स्वयमेव छहकारकरूप वर्तता हुआ[2] अन्य कारक (निमित्तों) की अपेक्षा नहीं रखता।

(३) नय—इस गाथा में ३ नय कहे गये हैं—१. शुद्धनय, २ निश्चयनय, ३ व्यवहारनय। यहाँ पर जीव को व्यवहारनय से पुद्गल कर्म-नोकर्म आदि का कर्ता कहा है। ऊपर 'कर्तृत्व' और 'जीव का कर्तृत्व' शीर्षक देकर यह बताया है कि जीव पर का कर्ता कदापि नहीं है। किन्तु पुद्गल की क्रिया के समय जिस जीव का रागादि विकारभाव निमित्त था, इतना ज्ञान कराने के लिये 'व्यवहारनय से' कर्ता कहा है। किन्तु यह सुनिश्चित समझ लेना चाहिये कि जीव परद्रव्य की पर्याय का कर्ता-हर्ता कदापि नहीं हो सकता।

१. शुद्धनय से—जीव अपने त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप के आश्रय से शुद्ध भावों का कर्ता है। संवर-निर्जरा—मोक्ष, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, ध्यान,

---

१—पंचास्तिकाय गा० १२२ पृ० १८३, १८४।

२—पंचास्तिकाय गा. ६२, १०५। जीव में कर्तृत्व गुण होने से और अनादि से उसकी पर्याय तथा कर्म का सम्बन्ध होने से एवं उसका त्रैकालिक एकत्व ध्रुव रहने से वह पारिणामिकभाव से अनादि-अनन्त है तथा औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों से सादि सांत है। वही क्षायिक भाव से सादि अनंत है। पंचास्तिकाय गा ५३ पृष्ठ ९३।

भक्ति, प्रायश्चित और समाधि आदि समस्त निश्चय क्रिया, जोकि सत् वीतरागी क्रिया है, उसका जीव कर्ता है !

२. निश्चयनय से जीव अपने दोष से रागादि चेतन-भाव-कर्मों का कर्ता है। शुभाशुभ भावों (चेतन कर्मों) का जाव कर्ता है। पौद्गलिक कर्म का उदय चेतनभाव का कर्ता नहीं है, यह बतलाने के लिये उसे निश्चयनय[१] की संज्ञा दी गई है। किन्तु वह निश्चयनय अशुद्ध निश्चयनय है।

३ शुद्धनय की अपेक्षा से वह भी "व्यवहारनय" है। इस गाथा मे कथित व्यवहारनय पर के साथ का सम्बन्ध बतलाता है। यह जीव पर जीवों का या परद्रव्य का तीन लोक में कुछ भी नहीं कर सकता, तथा उसका निमित्त भी नहीं हो सकता। ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य-(१) शुद्धाशुद्ध भावों का जो परिणमन है उसका कर्तृत्व जीव के है, यह जानने योग्य है, और यह भी निश्चित कर लेना चाहिये कि-जीव हस्तादि शरीर की किसी भी क्रिया[२] का कर्ता कदापि (एक समय को भी) नहीं है। ऐसा निश्चित करे तो ही शरीर की या पर पदार्थ की बोलने, खाने, पीने आदि क्रिया में जो अनादिकालीन जीव की कर्तृत्वबुद्धि है वह छूटे और अपने आत्मस्वरूप की भावना करे। (२) जीव को जानकर अचैतन्य स्वभाव के कारण ज्ञान से भिन्न ऐसे जीव संबद्ध या असंबद्ध अजीव को[३] अपने से भेदबुद्धि की प्रसिद्ध के लिये जानो। (३) नित्य, निरंजन, निष्क्रिय, निज आत्मस्वरूप की

१—देखिये समयसार में श्री जयसेनाचार्य की टीका गा० ५७, १०२, ११३ से ११५, १३७, १३८।
२—वृ. द्रव्यसंग्रह गा. ८, पृ० १९।
३—पचास्तिकाय गा. १२३, पृष्ठ १८५।

भावना से रहित अज्ञानी जीव कर्म-नोकर्मादि के स्वयं कर्ता न होने पर भी मानते हैं, इसलिए उन्हें कर्म-नोकर्म आदि का कर्ता कहा जाता है।

विशेष—गाथा २६-३० तथा ३२ से ३७ तक भावास्रव-बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन जीव भावोंसे संबंधित है, इसलिये इस गाथा के साथ उन गाथाओं को भी पढ़ना चाहिये ॥८॥

५. भोक्तृत्व अधिकार

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ ६ ॥
व्यवहारात् सुखदुःखं पुद्गलकर्मफलं प्रभुङ्क्ते ।
आत्मा निश्चयनयतः चेतनभावं खलु आत्मनः ॥६॥

अन्वयार्थ—(व्यवहारात्) व्यवहारनय से (आत्मा) आत्मा जीव (सुखदुःखं) सुख-दुःखरूप (पुद्गलकर्मफल) पुद्गल कर्म का फल भोगता है, और (निश्चयनयतः) निश्चयनय से (खलु) नियमपूर्वक (आत्मनः) आत्मा के (चेतनभाव) चैतन्यभाव को भोगता है।

भावार्थ—१. भोक्तृत्व—भोक्तृत्व[1] और अभोक्तृत्व—यह सामान्य गुण छहों द्रव्यों मे हैं। भोक्तृत्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था का भोक्ता है और अभोक्तृत्व गुण के कारण वह पर को कभी नहीं भोग सकता इसलिये जीव अपनी पर्याय को ही भोगता है, वह पर को भोगे ऐसा तीन काल और तीन लोक में कभी भी नहीं हो सकता।

१—प्रवचनसार गाथा ६५, पृष्ठ ११३.

२. जीव का भोक्तृत्व—जीव हर्ष-विषादरूप अर्थात् सुख-दुःखरूप अपने विकारी भावों का अशुद्ध दशा से भोक्ता है। साधक दशा में जीव अतीन्द्रिय सुख का अंशतः भोक्ता है, और केवलज्ञान होने पर अपने परिपूर्ण सुख का भोक्ता है। जीव पुद्गल कर्म के अनुभाग का या पर पदार्थों का भोक्ता नहीं है।

३. नय—इस गाथा में २ नय कहे गये हैं (१) व्यवहारनय और (२) निश्चयनय।

(अ) जीव यथार्थ से पर द्रव्यों का भोग नहीं कर सकता किन्तु जीव का विभाग उस समय निमित्तमात्र है—इतना ज्ञान कराने के लिये जीव साता-असाता कर्म के अनुभागरूप फल को भोगता है, ऐसा व्यवहारनय से[1] (भोक्ता) कहलाता है। और कर्मों के फलस्वरूप अनुकूल-प्रतिकूल (सुख-दुःखरूप) पदार्थों का जो संयोग होता है, जीव उसे भोगने का भाव करता है,—इतना जीव का निमित्तमात्रत्व बतलाने के लिये जीव सुख-दुःख रूप बाह्य पदार्थों को भोगता है,—ऐसा व्यवहारनय से[2] कहा जाता है। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीव यथार्थ में कर्म के अनुभाग को या अनुकूल पदार्थों को भोगता है।

(ब) यहां निश्चयनय के दो विभाग हो जाते हैं—

(१) अशुद्ध निश्चयनय, (२) शुद्ध निश्चयनय। जीव अशुद्ध निश्चयनय से हर्ष-विषादरूप सुख-दुःख को भोगता है तथा शुद्ध निश्चयनय से अविनाशी आनन्दरूप सुखामृत को भोगता है।

तात्पर्य—कर्त्ता के सम्बन्ध में जो गाथा ८ में कहा गया है वह इस गाथा में भी लागू होता है। जीव के कर्तृत्व और

१—यह अनुपचरित असद्भूत (मिथ्या) व्यवहारनय है।
२—यह उपचरित असद्भूत (मिथ्या) व्यवहारनय है।

भोक्तृत्व के विवेचन करने का ग्रंथकार, का यह अभिप्राय है कि जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानकर पर की और विकार की कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि को छोड़े तथा अपने सहज निर्विकार चिदानन्दस्वरूप शुद्ध पर्याय का कर्ता-भोक्ता होने का सतत प्रयत्न करे ॥ ९ ॥

६. स्वदेहपरिमाणत्व अधिकार

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ॥ १० ॥
अणुगुरुदेहप्रमाणः उपसंहारप्रसर्प्पाभ्यां चेतयिता ।
असमुद्घातात् व्यवहारात् निश्चयनयतः असंख्यदेशः वा ॥

अन्वयार्थः—(व्यवहारात्) व्यवहारनय से (चेतयिता) जीव (उपसंहारप्रसर्पाभ्या)* संकोच और विस्तार के कारण (असमुद्घातात्)

१—पं० हीरालाल जी कृत द्रव्यसंग्रह पृ० २३

* जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो, सदेहमित्त पभासयदि ॥
(पंचास्तिकाय, गा. ३३)

अर्थ.—जैसे दूध मे डाला गया पद्मरागमणि अपनी कांति से दूध को प्रकाशित करता है वैसे ही संसारी जीव अपने शरीरप्रमाण ही रहता है। गरम करने से दूध मे उफान आता है तब दूध के साथ ही पद्मरागमणि की काति भी बढ़ती जाती है। इसी प्रकार ज्यों ज्यों शरीर पुष्ट (वृद्धिंगत) होता है त्यो त्यों उसके साथ ही साथ आत्मा के प्रदेश भी फैल जाते हैं, और जब शरीर दुर्बल हो जाता है तब जीव के प्रदेश भी संकुचित हो जाते है।

समुद्घात* अवस्था को छोड़कर (अणुगुरुदेहप्रमाण.) छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण में रहता है, (वा) और (निश्चयनयत)

* मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥

अर्थ—मूल शरीर को छोड़े विना आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। इसके ७ भेद हैं—

१. वेदना—अधिक दु.ख की दशा मे मूल शरीर को छोड़े विना जीव के प्रदेशों का बाहर निकलना।

२. कषाय—क्रोधादि तीव्र कषाय के उदय से, धारण किये हुये शरीर को छोड़े विना जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

३. विक्रिया—विविध क्रिया करने के लिये मूल शरीर को छोड़े विना आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना।

४. मारणान्तिक—जीव मृत्यु के समय तत्काल ही शरीर को नहीं छोड़ता, किन्तु शरीर में रहकर ही (अन्य) जन्मस्थान को स्पर्श करने के लिये आत्मप्रदेश बाहर निकलते है।

५. तैजस—इसके दो प्रकार हैं, शुभ और अशुभ। (१) जगत को रोग या दुर्भिक्ष से दुखी देखकर महामुनि को दया उत्पन्न होने से जगत का दुख दूर करने के लिये, मूल शरीर को छोड़े विना ही तपोबल से, दाहिने कंधे मे से पुरुषाकार सफेद पुतला निकलता है और दुख दूर करके पुन अपने शरीर में प्रवेश करता है। उसे 'शुभ तैजस' कहते हैं। (२) अनिष्टकारक पदार्थोंको देखकर मुनियों के मन मे क्रोध उत्पन्न होने से उनके बाये कंधे से बिलाव आकार सिन्दूरी रंग का पुतला निकलता है। वह जिस पर क्रोध हुआ हो उसका नाश करता है और साथ ही साथ उस मुनिका भी नाश करता है। इसे 'अशुभ तैजस' कहते हैं।

निश्चयनय से (असंख्यदेशः) वह लोकाकाश जितने असंख्यात प्रदेश वाला है।

भावार्थ—(१) जीव का स्वक्षेत्र—प्रत्येक जीव लोकाकाश जितना असंख्यात प्रदेशी है। प्रदेशों* की वह संख्या त्रिकाल उतनी ही रहती है, क्योंकि वह स्वचतुष्टय से सदा एक अखंड द्रव्य है। क्योंकि जीव अखण्ड द्रव्य है इसलिये उसके खण्ड, छेदन, टुकड़ा कदापि नहीं हो सकते। सभी मूल द्रव्य अखंड हैं। (पुद्गल स्कंधों का स्वभाव ही अपनी योग्यता से स्वकाल मे छेदन भेदन टुकड़ा रूप होने का है) प्रत्येक द्रव्य पृथक् है इसलिये जीव के स्वक्षेत्र में अन्य कोई द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता और जीव भी पर क्षेत्र मे अर्थात शरीर में नहीं घुस सकता। हां, जीव और शरीर का सम्बन्ध 'एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध' है।

---

६. अहारक—छट्ठे गुणस्थानवर्ती, परम ऋद्धिधारी किसी मुनि के तत्त्वसंबंधी शंका उत्पन्न होने पर, अपने तपोबल से मूल शरीर को छोड़े बिना मस्तक मे से एक हाथ जितना पुरुषाकार सफेद और शुभ पुतला निकलता है। वह केवली या श्रुतकेवली के पास जाता है। वहाँ उनका चरणस्पर्श होते ही अपनी शंका निवारण करके पुनः अपने स्थान में प्रवेश करता है।

७. केवलि—केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद मूल शरीर को छोड़े बिना दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रिया करते हुये केवली के आत्मप्रदेशों का फैलना। केवली समुद्घात सभी केवलियों को नहीं होता, किन्तु जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद छह मास नहीं हुये हों उन्हें तथा छहमास के बाद भी चार अघातीय कर्मो मे से आयुकर्म की स्थिति अल्प हो तो उन्हीं को नियम से समुद्घात होता है।

* प्रदेश का स्वरूप गाथा २७ में दिया गया है।

(२) प्रदेशत्व गुण–प्रत्येक द्रव्य के प्रदेशत्व गुण होता है, क्योंकि वह एक सामान्य गुण है। जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य हो उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं। इस गुण के कारण जीव का प्रति समय अपना आकार होता है। जीव के प्रदेश लोक–प्रमाण असंख्यात (संख्यापेक्षा से) ही रहते है, किन्तु संसार दशा मे वे प्रदेश अपने कारण से संकोच–विस्तार को प्राप्त होते हैं। संसार दशा मे जीव का आकार एकसा नहीं रहता[1]। अपने सयोगरूप जो शरीर होता है उसके आकारानुसार जीव का अपना आकार अपने कारण से (समुद्घात–प्रसग के काल को छोड़कर) होता है। सिद्ध दशा में कैसा आकार होता है यह १४ और १५ वीं गाथा में कहा गया है।

(३) नय—जीव के जो असंख्यात प्रदेश हैं उनकी वह संख्या उतनी की उतनी ही रहती है, किसी भी समय एक भी प्रदेश कम–बढ़ नहीं होता, और वह दूसरे द्रव्य के प्रदेशों के साथ भी एकमेक नहीं हो सकता। उन प्रदेशो की सख्या निश्चित (वास्तविक) है इसलिये वह निश्चयनय[2] का विषय है। और जीव के प्रदेशों का आकार (संसार के शरीर का संबंध होता

१—इसलिये जीव का संस्थान अनिर्दिष्ट है ऐसा कहा गया है देखिये समयसार गाथा ४९। इस सम्बन्ध मे देखिये पचास्तिकाय गा० ६३–३५ टीका. पृष्ठ ६४–६६।

२—यह नय प्रमाणज्ञान करने के लिये अर्थात् वस्तुस्वरूप (प्रदेश सम्बन्धी) समझने के लिये है। धर्मपरिणति प्रगट करने के लिये तो एक अपना ज्ञायकस्वभाव ही आश्रय करने योग्य है। संसारी दशा मे दोनों का विषय साथ ही रहता है।

है, इसलिये) व्यवहारनय[1] से शरीराकार कहा जाता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि-जीव का आकार शरीराकाररूप हो जाता है वह तो निजरूप ही रहता है।

तात्पर्य—पौद्गलिक देह के साथ जीव को निजत्व की-अपनेपन की मान्यता अनादि से है, और इसलिये वह संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुखी हो रहा है। इसलिये देहादिक का ममत्व छोड़ कर निर्मोह निज शुद्धात्मा की भावना[2] कर्तव्य है ॥ १० ॥

७. संसारित्व अधिकार

पुढविजलतेयवाउ वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥ ११ ॥

पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्विकत्रिकचतुःपंचाक्षाः त्रसजीवाः भवन्ति शंखादयः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतयः) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति (विविधस्थावरैकेन्द्रियाः) अनेक प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय जीव और (शंखादयः) शंख इत्यादि (द्विकत्रिकचतुःपंचाक्षाः) दो इन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (त्रसजीवाः) ये त्रस जीव हैं।

१—शरीर पर पदार्थ है, इसलिये उसके आकार के साथ का सम्बन्ध बताना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। देखिये वृ० द्रव्यसंग्रह पृष्ठ २३।

२—वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा १० टीका, पृ० २४।

भावार्थः—१—संसारित्व—जीवों की दो अवस्थायें हैं (१) सिद्ध और (२) संसारी। सिद्ध जीव परिपूर्ण सुखी हैं। संसारी में जो अज्ञानी हैं वे अपनी मिथ्या मान्यता के कारण चारों गतियों में परिपूर्ण दुखी हैं। वे पर पदार्थ[1] में इष्ट—अनिष्ट बुद्धि करते हैं। वे अनुकूल बाह्य पदार्थों मे सुख और प्रतिकूल पदार्थों मे दुख मानते हैं और इसलिये इन्द्रियसुख पदार्थ में दुःख होते हुये भी उसे प्राप्त करने के लिये वे प्रयत्न करते हैं और दुःखी होते हैं। साधक जीव अपनी शुद्धतानुसार सुखी हैं। केवली भगवान[2] परिपूर्ण सुखी हैं।

प्रश्न—यदि जीव की सिद्ध दशा न मानी जाये तो?

उत्तर—तो जीव को संसारी दशा सिद्ध नहीं होगी। उन्हें 'ससारी' विशेषण किन्हीं अन्य जीवों से भिन्न बताने के लिये ही लगाया जाता है। यदि असंसारी (सिद्ध) जीव न हों तो जीवों की संसारी अवस्था साबित नहीं होगी। संसारी दशा का प्रतिपक्ष भाव सिद्ध दशा है। यदि जीव के संसार दशा ही नहीं होगी तो फिर धर्म करने और अधर्म को दूर करने का पुरुषार्थ ही नहीं रहेगा।

२—संसारी जीवों के भेद—ससारी जीवों के दो भेद हैं (१) स्थावर (२) त्रस। सभी एकेन्द्रिय जीव स्थावर जीव हैं, उनके ५ प्रकार हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पति

१—वास्तव मे कोई पर पदार्थ इष्ट—अनिष्ट नहीं हैं, वे सब ज्ञेय मात्र हैं। अपनी अज्ञान दशा अनिष्ट और ज्ञानदशा इष्ट है। किन्तु अज्ञानी इससे विपरीत मानता है।

२—केवली भगवान असिद्धभाव के कारण ससारी हैं। उस भव का अभाव होने पर वे सिद्ध होते हैं।

काय । दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रसकाय हैं। शास्त्रकथित यह काय, इन्द्रियाँ या मन पुद्‌गल की पर्यायें हैं, जीव नहीं। किन्तु उनमें रहने वाला जो ज्ञान है वह जीव है, ऐसा समझना चाहिये।

३—अन्य प्रकार से जीव के भेद[1]—जीवतत्व सामान्यतया एक प्रकार से है। बद्ध और मुक्त यों दो प्रकार से है। और अब जीवों के ३ प्रकार के भेद कहे जा रहे हैं—

(१) असिद्ध, नो सिद्ध, सिद्ध। यहा 'नो' का अर्थ अल्प है। चौथे गुणस्थान से जीव को 'नो सिद्ध' कहा जाता है।

(२) मिथ्यादृष्टि असिद्ध, सम्यग्दृष्टि ईषत् सिद्ध, रत्नत्रय-प्राप्त सिद्ध।

४–नय—जीवों से सम्बंधित नय १३ वीं गाथा मे दिये गये हैं।

तात्पर्य—विशुद्धज्ञान–दर्शन स्वभाव निजपरमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक सुख से अज्ञात होने के कारण जीव इन्द्रियसुख में रुचिपूर्वक आसक्त होकर एकेन्द्रियादि जीवों का वध करता है। इसलिये वह त्रस–स्थावर होता है। इसलिये उसके नाश के लिये निज परमात्मा की भावना[2] कर्त्तव्य है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ११ ॥

१—तत्वार्थसार गा० २३४ पृ० १२३.

२—बृ० द्रव्यसंग्रह गा० ११ पृ० २५.

चौदह जीवसमास*

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
बादरसुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ।। १२ ।।
समनस्काः अमनस्काः ज्ञेयाः पंचेन्द्रियाः निर्मनस्काः परे सर्वे ।
बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियाः सर्वे पर्याप्ताः इतरे च ।। १२ ।।

भावार्थः—(पचेन्द्रियाः) पंचेन्द्रिय जीव (समनस्काः) मन सहित और (अमनस्काः) मन रहित (ज्ञेया) जानना चाहिये । और (परे सर्वे) शेष सब (निर्मनस्काः) मन रहित जानना चाहिये । उनमें (एकेन्द्रियाः) एकेन्द्रिय जीव (बादराः सूक्ष्मा) बादर और सूक्ष्म यों दो प्रकार के हैं (सर्वे) और वे सब (पर्याप्ता) पर्याप्त (च) और (इतरे) अपर्याप्त होते हैं ।

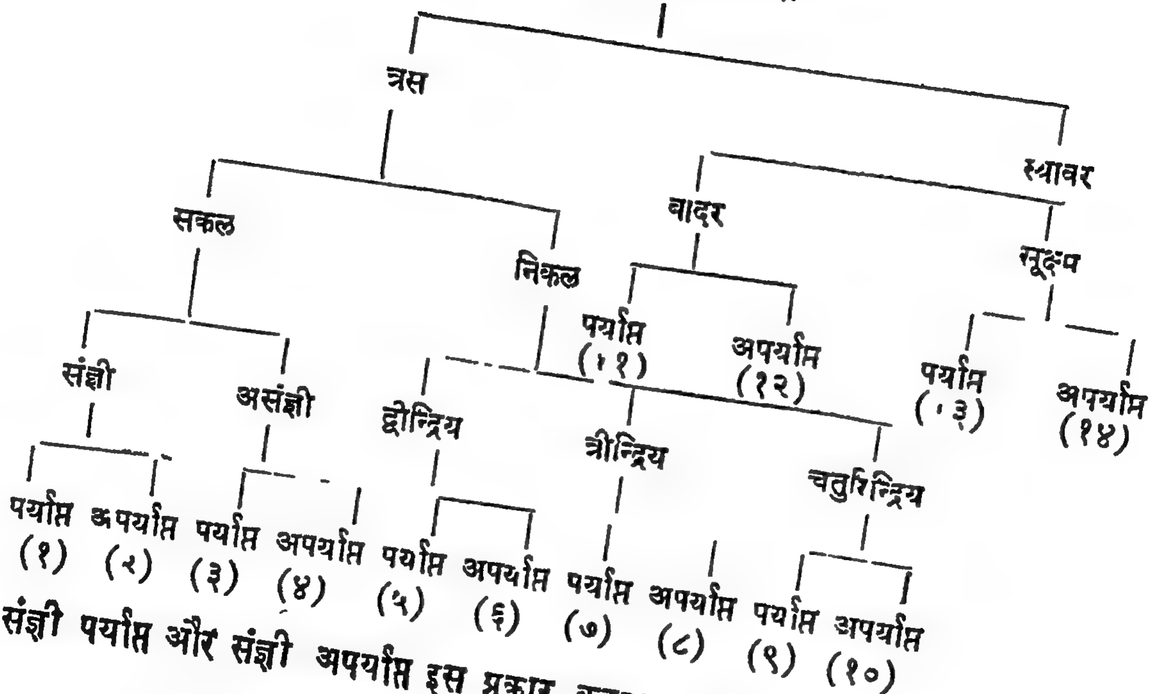
भावार्थः—(१) पचेन्द्रिय जीव के २ भेद हैं, संज्ञी और असंज्ञी । एकेन्द्रिय जीव के भी २ भेद हैं-बादर और सूक्ष्म । बादर एकेन्द्रिय जीव दूसरों को बाधा देते हैं और स्वयं बाधा को प्राप्त होते हैं । वे किसी पदार्थ के आधार से रहते हैं सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समस्त लोकाकाश में फैले हुये हैं । वे किसी को बाधा नहीं पहुँचाते और स्वयं किसी से बाधा को प्राप्त नहीं होते ।

(२) दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव

---

* जिसके द्वारा अनेक प्रकार के जीव के भेद जाने जा सके उसे जीवसमास कहते हैं

चौदह जीवसमास



संज्ञी पर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त इस प्रकार कहना चाहिये, यह १४ जीवसमास हैं।

पर्याप्त* और अपर्याप्त होते हैं।

(३) पर्याप्ति का विवेचन

जीव	पर्याप्ति	संख्या
एकेन्द्रिय—	अहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास	४
विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय	अहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा	५
संज्ञी पंचेन्द्रिय—	अहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन	६

एक अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्ति पूर्ण होती है। अपर्याप्तक जीव एक श्वास मे १८ वार जन्म-मरण करता है। निरोग पुरुष की एक बार नाडी चलने में जितना समय लगता है उसे श्वास कहते हैं। ४८ मिनिट मे ३७७३ श्वास होते हैं।

तात्पर्य यह गाथा भी संसारी जीव का स्वरूप बतलाती है। यहां यों समझना चाहिये कि पर्याप्तियां और प्राण तो पुद्‌गल की पर्यायें हैं, और उसमें जो ज्ञान है सो जीव है। पर्याप्तियों और प्राणों से भिन्न जो निज शुद्धात्म तत्व है वही उपादेय है, ऐसा[1] भावार्थ है।

---

* (१) जैसे मकान, घड़ा, वस्त्रादि वस्तुयें पूर्ण और अपूर्ण होती है उसी प्रकार जीव पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं।

(२) आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। एकेन्द्रिय जीव के चार, दो इन्द्रिय जीव से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के पाच और संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्तियां होती हैं।

१—बृ० द्रव्यसंग्रह गाथा १२, पृ० २७

जीव के दूसरे भेद

* मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १३ ॥
मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात् ।
विज्ञेयाः संसारिणः सर्वे शुद्धाः खलु शुद्धनयात् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(तथा) तथा (संसारिणः) संसारी जीव (अशुद्धनयात) अशुद्धनय से (मार्गणागुणस्थानैः) मार्गणास्थान और गुणस्थान की अपेक्षा से (चतुर्दशभिः) चौदह चौदह प्रकार के

---

* चौदह मार्गणायें

गइ इन्द्रियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य ।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

अर्थ—१–गति (४), २–इन्द्रियां (५), ३–काय (६), ४–योग (३), ५–वेद (३), ६–कषाय (२५), ७–ज्ञान (८), ८–संयम-पांच संयम, एक असंयम, और एक संयमासंयम (७), ९–दर्शन (४), १०–लेश्या (६), ११–भव्यत्व (२),१२–सम्यक्त्व(६),१३–संज्ञित्व (२), और १४–आहार (२), इस प्रकार १४–मार्गणायें हैं ।

गुणस्थानों के नाम और लक्षण

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमो य ॥
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥

१—मिथ्यात्व–सच्चे देव शास्त्र गुरु और जीवादि तत्वों में विपरीत मान्यता, स्व–पर के एकत्व की श्रद्धा, अतत्व श्रद्धा ।

(भवन्ति) होते हैं। (शुद्धनयात) और शुद्ध निश्चयनय से (सर्वे) सभी संसारी जीव (खलु) वास्तव में (शुद्धा) शुद्ध (विज्ञेया:) जानना चाहिये।

२—सासादन-सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर जाना।

३—मिश्र-सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणामों का एक ही साथ होना।

४—अविरत सम्यक्त्व-सम्यक्त्व तो है हो, किन्तु अशक्तिवश किसी प्रकार के निश्चयव्रत और चारित्र को धारण न करे। स्वरूपाचरण चारित्र हो।

५—देशसयत-सम्यक्त्व सहित एकदेश (अंशत) निश्चय चारित्र का पालन करना।

६—प्रमत्तसंयत-सम्यक्चारित्र की भूमिका में अहिंसादि शुभोपयोगरूप महाव्रतों का पालन करता है, यह प्रमाद है। (सर्वथा नग्न-दिगम्बर दशापूर्वक मुनिपद होता है)

७—अप्रमत्तसयत-प्रमाद रहित होकर मात्र आत्मस्वरूप में सावधान रहता है।

८—अपूर्वकरण-सातवें गुणस्थान से ऊपर अपनी विशुद्धता में अपूर्व रूप से उन्नति करना।

९—अनिवृत्तिकरण-आठवें गुणस्थान से अधिक उन्नति करना।

१०—सूक्ष्मसापराय-(सूक्ष्म कषाय) समस्त कषायों का उपशम अथवा क्षय होना और मात्र लोभ कषाय का सूक्ष्मरूप में रहना।

११—उपशान्त कषाय-(उपशान्तमोह) कषायों का सर्वथा उपशम हो जाना।

१२—क्षीणकषाय-(क्षीणमोह) कषायों का सर्वथा क्षय हो जाना।

१३—सयोग केवली-केवलज्ञान प्राप्त होने पर भी योग की प्रवृत्ति होना। (वे सब १८ दोष रहित होते हैं)

१४—अयोग केवली-केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद योग की प्रवृत्ति भी बन्द हो जाती है।

भावार्थः—[1]-भूमिका-बृहद् द्रव्यसंग्रह की इस गाथा की भूमिका में लिखा है कि—"अथ शुद्धपारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय से सभी जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावमय हैं। पश्चात् अशुद्धनय से चौदह मार्गणास्थान तथा चौदह गुणस्थान सहित होते हैं, ऐसा कथन करते हैं।"

प्रश्न—शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध नयों के विषय एक ही साथ होने पर भी (प्रथम) शुद्ध द्रव्यार्थिकनय और 'पश्चात्' अशुद्धनय—ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय एक ही आश्रय करने योग्य है क्योंकि उसके आश्रय से जीव के धर्मरूप शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और इसलिये दुःख का अभाव होकर सुखरूप दशा होती है। अशुद्धनय के विषय के आश्रय से जीव के अशुद्धपर्याय प्रगट होती है, इसलिये उसका आश्रय छोड़ने योग्य है, ऐसा बताने के लिये शास्त्रों में शुद्ध द्रव्यार्थिकनय को प्रथम (तावत्) और अशुद्धनय-व्यवहारनय को पश्चात् कहा जाता है*।

---

* समयसार गा० ७, पृष्ठ १८ टीका जयसेनाचार्य, रायचन्द जैन शास्त्रमाला।

प्रवचनसार (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला का) गा० १९, पृ० २७, "तावन्निश्चयेन+ +व्यवहारेण संसारावस्थायां पश्चात् इन्द्रिया धारेण।"

प्र० सार गाथा ३४ पृ० ४५ "निश्चयेन शुद्ध + + जीव. पश्चाद् व्यवहारेण नरनारकादिरूपो"

गाथा ५५ पृ० ७२ "जीवस्तावत् शक्तिरूपेण शुद्ध द्रव्यार्थिकनयेन अमूर्त + + पश्चात् + + व्यवहारेण।"
गाथा ७० पृ० २२५ " यथाऽयमात्मा + + पश्चात्।"

२—शुद्ध पारिणामिक परमभाव—(१) पारिणामिक का अर्थ सहज स्वभाव है। उत्पाद व्यय रहित ध्रुव एकरूप स्थिर रहने वाला भाव पारिणामिक भाव है। पारिणामिक भाव सभी जीवों के सामान्य होता है। अर्थात सभी जीव त्रिकाल (अनादि-अनन्त) ध्रुवरूप से-शक्तिरूप से शुद्ध है। औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिक, इन चारों भावों से रहित जो भाव है सो पारिणामिक भाव है। [द्रव्य निज को धारण कर रखता है अर्थात स्वयं विद्यमान रहता है, इसलिये उसे 'परिणाम' कहते हैं] ऐसे परिणामस्वरूप भाव को पारिणामिक भाव कहा जाता है। इन पाच भावों में कर्मोपाधि की चार दशायें—उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय जिनका निमित्तकारण है—ऐसे चार भाव हैं। जिसमें कर्मोपाधिरूप निमित्त किंचित मात्र नहीं है, मात्र द्रव्यस्वभाव ही जिसका कारण है ऐसा एक पारिणामिक भाव है।

(२) यह भाव त्रिकाल शुद्ध और परम है इसलिये इसे शुद्ध पारिणामिक परम भाव कहते हैं, क्योंकि उसके आश्रय से

पंचास्तिकाय गा० १२३ पृ० ११७ टीका जयसेनाचार्य "परमार्थेन स्वाधीन अनंतज्ञान + + पश्चात अज्ञानेन।"

गाथा १५४ पृ० २२५ 'जीव निश्चयनयेन विशुद्ध + + पश्चात व्य०।" गाथा ५१–५२ पृ० १०० निश्चयनयेन अनन्य पश्चात व्य० + +" गाथा २९ पृ० ६४ निश्चयनयेन + + तावत इत्थंभूतोपि संसारा वस्थायां ""

वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ४ पृ० ११ "तथाहि आत्मा + + तावत् पश्चात्।" गाथा ५ पृ० १३ "आत्माहि निश्चयनयेन केवल-ज्ञानरूपां तावत्।" गाथा १३ की सूचनिका "शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्ध ..अपि जीवा' पश्चात् अशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणा + +"

जीव के शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। दूसरे चार भावों को 'अपरम' भाव कहते हैं, क्योंकि उनके आश्रय से जीव के अशुद्ध पर्याय[1] प्रगट होती है।

(३) समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को उखाड़ फेंकने में समर्थ ऐसा यह परमभाव त्रिकाल निरावरण है।

३—सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया—(शुद्धनय से सभी जीव वास्तव में शुद्ध हैं) यहां शुद्धनय का अर्थ द्रव्यार्थिक नय है। इस दृष्टि से देखने पर सभी जीव शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के धारक हैं, मात्र पर्यायदृष्टि से जीवों की पर्याय में तारतम्य होते हैं यह बतलाने के लिये यहाँ उसे अशुद्धनय का विषय कहा जाता है। उन पर्यायों को जीव स्वयं स्वतः पर से निरपेक्षतया निश्चयनय से करता है। कर्म का निमित्त होने पर भी कर्म उन्हें कराता नहीं है, इसलिये पर से उसका भेदज्ञान कराने के लिये 'अशुद्धनय' कहा जाता है। और शुद्धनय की अपेक्षा से अशुद्धनय भी व्यवहारनय है,—ऐसा समझना चाहिये। इसीलिये श्री समयसार की ५६ वीं गाथा में मार्गणास्थान-गुणस्थानादि भावों को व्यवहारनय का विषय[2] कहा है।

१—इस विषय का विशेष वर्णन श्री पंचास्तिकाय शास्त्र की गाथा ५३ से ६८ और उसकी टीका में तथा मोक्षशास्त्र के अ. २, सूत्र १ से ८ और उनकी टीका में किया गया है। वहां से देख लेना चाहिए।

२—श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला—समयसार गाथा ६८ के नीचे श्री जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ १११-११२, गा० ५७ पृ० १०१, गा० १०२ पृ० १६७, गा० ११३ से ११५ पृ० १७९; गा० १३७-३८ पृ० १९८।

४—मार्गणास्थान—जिन जिन धर्मविशेषों से जीवों का अन्वेषण किया जाता है उन उन धर्मविशेषों को मार्गणा कहते हैं। उनके १४ स्थान भेद हैं। उनके नाम हैं—

(१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) ज्ञान, (८) संयम (९) दर्शन, (१०) लेश्या, (११) भव्यत्व, (१२) सम्यक्त्व, (१३) संज्ञित्व, (१४) आहारत्व[१]।

ये सब भगवान परमात्मा के (निज त्रिकाल शुद्धात्मा के) शुद्ध निश्चयनय के बल से नहीं हैं, अपितु अशुद्धनय से हैं[२]।

५—गुणस्थान—मोह और योग के सद्भाव से या अभाव से, जीव के श्रद्धा-चारित्र-योग आदि गुणों की तारतम्यतारूप अवस्थाविशेष को 'गुणस्थान' कहते हैं। इसके भी चौदह भेद हैं। यह चौदह भेद भगवान परमात्मा के शुद्ध निश्चयनय के बल से नहीं हैं, किन्तु अशुद्धनय से हैं-ऐसा गाथा का अर्थ समझना चाहिये।

तात्पर्य—जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्ति मात्र है, वह अविनाशी होने से शुद्ध पारिणामिकभाव कहलाता है। वह भाव ध्येय (ध्यान करने योग्य) है। किन्तु वह ध्यानरूप नहीं है, क्योंकि ध्यानपर्याय विनश्वर है, और शुद्ध पारिणामिकभाव द्रव्यरूप है इसलिए वह अविनाशी है, इसलिये वही आश्रय करने योग्य है—ऐसा समझना चाहिये ॥ १३ ॥

१—इसके विशेष वर्णन के लिए देखो इसी १३ वीं गाथा के नीचे का फुटनोट।

२—नियमसार गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ ८८।

८-९. सिद्धत्व और विस्रसा ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता ॥ १४ ॥
निष्कर्म्माणः अष्टगुणाः किंचिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः ।
लोकाग्रस्थिताः नित्याः उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(निष्कर्म्माणः) ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रहित (अष्टगुणाः) सम्यक्त्वादि* अष्टगुण सहित (चरमदेहतः) अन्तिम शरीर से (किंचिदूनाः) कुछ न्यून (लोकाग्रस्थिताः) लोक के अग्रभाग में स्थित (नित्याः) ध्रुव अविनाशी (उत्पादव्ययाभ्याम्) उत्पाद और व्यय से (संयुक्ताः) सहित जीव (सिद्धाः) सिद्ध हैं।

भावार्थः—(१) सिद्ध भगवान को प्रगट हुये आठ गुण—पर्यायें—यथार्थ में (निश्चय से) सिद्धों के आठ गुण ही नहीं, किन्तु अनन्त गुण (परिपूर्ण शुद्ध पर्यायें) प्रगट हो गये हैं। तथापि आठ गुणों का वर्णन मध्यम रुचि वाले शिष्यों की अपेक्षा से

---

* १ सम्यक्त्व, २ ज्ञान, ३ दर्शन, ४ वीर्य ५ सूक्ष्मत्व, ६ अवगाहन ७ अगुरुलघु, ८ अव्याबाध—इन सर्व गुणों की परिपूर्ण शुद्ध पर्यायें सिद्ध में होती हैं। आठ कर्मों का अभाव होता है। व्यवहार से अष्ट गुण और निश्चय से अनंत गुण सर्व सिद्ध भगवतों के होते हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध से मुक्त होकर जीव ऊर्ध्वगमन करता है। संसारी जीव का विग्रहगति के समय विदिशा में न जाकर आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार शेष छह दिशाओं में गमन होता है।

(व्यवहारनय से) क्रिया[1] है ।

(२) संक्षेपरुचि शिष्यों के प्रति[2]—१-अभेदनय से अनन्त-ज्ञानादि चतुष्टय, २-अनन्तज्ञान दर्शन-सुखत्रय ३-केवलज्ञान दर्शन दो, ४-साक्षात् अभेदनय से शुद्ध चैतन्य ही एक गुण, यों संक्षेप-रुचि शिष्यों की अपेक्षा से सक्षेप में कहा जाता है ।

(३) मध्यम रुचि शिष्यों के प्रति[3]—सम्यक्त्वादि आठ गुण मध्यम रुचि शिष्यों की अपेक्षा से कहे जाते हैं । विशेष भेदनय की अपेक्षा से—१-निर्गतित्व, २-निरिन्द्रियत्व, ३-निष्कायत्व, ४-निर्योगत्व, ५-निर्वेदत्व, ६-निष्कषायत्व, ७-निर्नामत्व, ८-निर्गोत्रत्व, ९-निरायुत्व इत्यादि विशेष गुण तथा १-अस्तित्व, २-वस्तुत्व, ३-प्रमेयत्वादि सामान्य गुण ऐसे स्वागम से अविरोध अनन्तगुण जानना चाहिये ।

(४) आठ गुणों-पर्यायों का संक्षिप्त स्वरूप—

१—केवलज्ञान—तीनलोक-त्रिकालवर्ती समस्त वस्तुगत अनंत धर्मों को युगपत् विशेषरूप से प्रकाशित करे सो केवलज्ञान है[4] ।

२—केवलदर्शन—उन सबको युगपत् सामान्यरूप से प्रकाशित करे सो केवलदर्शन है ।

१—पं० हीरालालजी की टीका, द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ४९.

२—३ वृ० द्रव्यसंग्रह पृ० ३८, प्रवचनसार गा० ११७, पृ० १६७ में श्री जयसेनाचार्य ने निर्नाम और निर्गोत्र कहा है ।

४—प्रवचनसार गा० १५, पृ० २०, पंचास्तिकाय गा० ४५, पृ० ९८, गा० ९६, पृ० १५५, गा० १५४ पृ० २२४, श्री जयसेनाचार्य समयसार कलश २ भावार्थ, पृ० ४. [केवली अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते ऐसी मान्यता न्यायविरुद्ध है । केवली समस्त रहस्यों को जानते हैं । 'केवली अमुक को नहीं जानते' ऐसा मानने वाला केवली को (सर्वज्ञ न मानकर) अल्पज्ञ मानता है ।]

३–अनन्तवीर्य—अनन्त पदार्थों के ज्ञान में खेदरहितत्व सो अनन्तवीर्य है।

४–क्षायिक सम्यक्त्व—समस्त जीवादि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) रहित परिणति सो परम क्षायिक सम्यक्त्व[1] है। (इसमें सम्यक्चारित्र और अनन्त सुख का समावेश होता है) ।

५–सूक्ष्मत्व—सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने से सिद्धों के स्वरूप को सूक्ष्म कहता है, वह सूक्ष्मत्व है।

६–अवगाहनत्व—जहां एक सिद्ध हो वहां अनन्त सिद्ध समाविष्ट होते हैं, वह अवगाहनत्व है।

७–अगुरुलघुत्व—जीवों में छोटे-बड़ेपन का अभाव सो अगुरुलघुत्व है।

८–अव्याबाधत्व– किसी से बाधा को प्राप्त न हो सो अव्याबाधत्व है।

(५) चरम देह से किंचित् न्यून—तेरहवें गुणस्थान के अन्तभाग में नासिकादि छिद्र पुर जाते हैं और एक चैतन्यघन बिम्ब हो जाता है, इसलिये सिद्धों का आकार चरम (अन्तिम) देह से कुछ न्यून[2] (कम) होता है।

१–बृ० द्रव्यसंग्रह पृ० ३७ ३८.

२–बृ० द्रव्यसंग्रह पृ० ३८ तथा पं० हीरालालजी कृत टीका वाला द्रव्यसंग्रह पृ० ५० [द्रव्यसंग्रह की गा० ५१ में 'पुरुषाकार' शब्द विशेष बतलाया है, वह अर्थसूचक है (वह यह बतलाता है कि कोई भी द्रव्यस्त्री कभी भी मोक्ष पाने की पात्र नहीं है।) सिद्ध भगवान खड्गासन या पद्मासन आकार में होते हैं।]

६—लोकाग्रस्थित (१) इस गाथा में और ५१ वीं गाथा मे दोनों जगह आत्मा के उपादानकारण का ही कथन किया है। दोनों में से किसी भी गाथा में 'धर्मास्तिकाय के अभाव' का वर्णन किया ही नहीं है क्योंकि-वह तो अभावरूप निमित्तमात्र का ज्ञान है। यह अबाधित नियम है कि—जहां उपादानकारण होता है वहां उचित निमित्त ही सद्भाव या अभावरूप होता है। इसलिये-उपादानकारण कहते ही निमित्तकारण-गौणतया (अध्याहाररूप से) आ ही गया। निमित्त कारण वास्तविक कारण नहीं है, वह तो उपचार मात्र है। (२) गाथा २ में कथित यह ऊर्ध्वगमन स्वभाव विस्रसा ऊर्ध्वगति है।

७—उत्पाद-व्यय सहित—जो सिद्धत्व हो गया वह बदल कर संसारीपना नहीं हो सकता, किन्तु यदि प्रति समय उत्पाद-व्यय न हो तो द्रव्य के सत्पने का नाश हो जाये, क्योंकि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' होता है।

तात्पर्य—केवली-सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते और वे संसार अवस्था को नहीं चाहते, यह श्रद्धान का बल× जानना चाहिये। जैसा सात तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ को होता है वैसा ही केवली-सिद्ध भगवान के भी होता है। इसलिये ज्ञानादिक की हीनता—अधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक और केवली-सिद्ध भगवान के सम्यक्त्वगुण तो समान ही कहा है। इसलिये सभी जीवों को वैसा श्रद्धान प्रगट करना चाहिये और आगे बढ़ने का प्रयास चालू रखना चाहिये ॥१४॥

× मोक्षमार्ग प्रकाशक ९ वां अधिकार, पृ० ४७५ दिल्ली वाला (इससे यह भी सिद्ध होता है कि केवली और सिद्ध भगवान जैसा ही निश्चयसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान मे होता है।)

अजीव द्रव्यों का वर्णन

यद्यपि शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव परमात्मद्रव्य उपादेय है, तथापि हेयरूप अजीवद्रव्यों का भी कथन किया जाता है, क्योंकि हेयतत्व का परिज्ञान किये बिना उसका आश्रय छोड़कर उपादेय तत्त्व का आश्रय नहीं किया जा सकता।

अजीव तत्त्व के भेद

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥१५॥

अजीवः पुनः ज्ञेयः पुद्‌गलः धर्मः अधर्मः आकाशम् ।
कालः पुद्‌गलः मूर्तः रूपादिगुणः अमूर्ताः शेषाः तु ॥१५॥

अन्वयार्थ—(पुन) और (पुद्गल) पुद्गल (धर्मः) धर्म (अधर्मः) अधर्म (आकाशम्) आकाश तथा (कालः) काल यह (अजीवः) अजीव द्रव्य (ज्ञेयः) जानना चाहिये। (पुद्गलः) पुद्‌गल द्रव्य (रूपादिगुणः) रूपादिगुण वाला (मूर्तः) मूर्तिक है (तु) और (शेषाः) शेष द्रव्य (अमूर्ताः) अमूर्तिक (अरूपी) हैं।

भावार्थ—अजीव का अर्थ-जिन द्रव्यों मे जानने-देखने की शक्ति न हो उन्हें अजीव द्रव्य कहते हैं।

अजीव द्रव्य के भेद—अजीव द्रव्य के पाच भेद हैं १-पुद्‌गल, २-धर्म, ३-अधर्म, ४-आकाश, ५-काल। इनमें से पुद्‌गल मूर्तिक है और शेष चार द्रव्य अमूर्तिक (अरूपी) हैं।

जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हो वह मूर्तिक है और जिसमें यह न हों वह अमूर्तिक है। ७ वीं गाथा मे अमूर्तिक

की व्याख्या दी गई है । अमूर्तिक द्रव्यों के इन चार गुणों और उनकी पर्यायों का कोठा (चार्ट) पहले दिया जा चुका है ।

तात्पर्य—(१) उपादेयभूत अनन्त सुखरूप जीवास्तिकाय से विलक्षण होने के कारण यह हेय तत्व है,—ऐसा समझना चाहिये । (२) इस गाथा के परिज्ञान का फल ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान होना है कि परात्मतत्व से अजीव द्रव्य भिन्न है, (अर्थात् जीव उसका किसी भी प्रकार से कुछ भी नहीं कर सकता और वे भी जीव का किसी भी प्रकार से कुछ नहीं कर सकते ।) (३) पांच द्रव्यों का स्वकीय स्वकीय (अपने अपने) परिणाम से परिणमन होना ही उनका कर्तृत्व है । (४) कर्तृत्व और अकर्तृत्व ऐसे दो सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्य में होते हैं । इसलिये यह पाच द्रव्य स्वय अपनी पर्यायो के कर्ता हैं । कोई भी पदार्थ परद्रव्य तथा पर की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता । (५) कोई भी जीव पुद्गल का कुछ नहीं कर सकता, यह पहले ८ वीं गाथा मे कहा जा चुका है ॥ १५ ॥

पुद्गलद्रव्य की पर्यायें

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

शब्दः बन्धः सूक्ष्मः स्थूलः संस्थानभेदतमश्छायाः ।
उद्योतातपसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(शब्द) शब्द, (बध) बंध, (सूक्ष्म) सूक्ष्म, (स्थूल) स्थूल, (संस्थान) आकार, (भेद) खंड, (तम) अधकार, (छाया) छाया, (उद्योतातपसहिता) उद्योत और आतप सहित (पुद्गलद्रव्यस्य) पुद्गलद्रव्य की (पर्याया) पर्यायें हैं ।

भावार्थः—१-दश पर्याये-पुद्गल द्रव्य की शब्द आदि दश* पर्यायें हैं।

२-बंध-(१) कर्मबंध से पृथग्भूत स्वशुद्धात्मा की भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यबंध है। (अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव को चौथे गुणस्थान से श्रद्धा की मुख्यता से बंध नहीं है। (२) निष्कषाय शुद्धात्मा के ज्ञान से रहित जीवों के जो कर्मवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य आता है उसे द्रव्यास्रव समझना चाहिये। (३) जैसे नेत्र दृश्य पदार्थों के कर्त्ता या भोक्ता नहीं हैं, मात्र देखते ही हैं, उसी प्रकार ज्ञान अकारक और अवेदक हैं, और वह बंध-मोक्ष, कर्मोदय तथा निर्जरा को मात्र जानता है।

तात्पर्य—(१) पन्द्रहवीं गाथा में जो तात्पर्य कहा है वह यहाँ भी लागू होता है। (२) आस्रव-बंध की ऊपर की व्याख्या श्री समयसार की ७२ वीं गाथा टीका तथा+ भावार्थ का अनुसरण करती है॥ १६॥

---

* १-वीणा आदि का स्वर शब्द है। २-लाख और लकड़ी आदि का जुड़ना सो बंध है। ३-इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य सूक्ष्म है। ४-इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य स्थूल है। ५-त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल इत्यादि आकार हैं। ६-स्कंधों का कोई भी भाग खंड है। ७-जो दृष्टि को रोके सो अंधकार है। ८-धूप में मनुष्यादि की छाया तथा दर्पण में मुखादि का दिखना छाया व प्रतिबिंब है। ९-चंद्रमा अथवा चन्द्रकान्त मणि का प्रकाश उद्योत है। १०-सूर्य अथवा सूर्यकान्त मणि का प्रकाश आतप है।

+ ज्ञानी के आस्रव बंध नहीं है—यह कथन इसकी मुख्यता से है कि दर्शनमोह और अनन्तानुबंधीकी प्रकृतिका बंध नहीं होता। अविरति

धर्म द्रव्य का लक्षण

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥ १७ ॥

गतिपरिणतानां धर्म्मः पुद्गलजीवानां गमनसहकारी ।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव सः नयति ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(गतिपरिणतानां) गति में परिणमित (पुद्गल-जीवानां) पुद्गल और जीवों को (गमनसहकारी) चलने में सहायक (धर्म) धर्म द्रव्य है। (यथा) जैसे (मत्स्यानां) मछलियों को [चलने में] (तोयं) पानी सहायक है। किन्तु (सः) वह धर्मद्रव्य (अगच्छता) नहीं चलते हुओं को (नैव नयति) कदापि नहीं चलाता।

भावार्थ—१-गमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों का सामान्य गुण 'सक्रियत्व' है, इसलिये यह दो द्रव्य गमन करते हैं। क्षेत्र से क्षेत्रांतर गमनरूप परिस्पंदवाली-चलनवाली क्रिया जिनमें विद्यमान है वे क्रियावन्त[२] जीव-पुद्गल हैं।

२-गतिनिमित्तता—धर्मास्तिकाय द्रव्य का गतिनिमित्तता विशेष गुण है। इस द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे किसी भी द्रव्य में वह नहीं है।

आदि से जो बंध होता है वह अल्पस्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है, इसलिये उसे प्रधान नहीं माना गया है (देखो, समयसार पृष्ठ १३६ से १३८ आवृत्ति दूसरी)

१—प्रवचनसार गाथा ६५ पृ० १५०.

२—वृ० द्रव्यसंग्रह पृ० ६८.

३—एक ही काल में सबको निमित्त—एक ही काल मे गतिपरिणत समस्त जीव-पुद्‌गलों को लोक तक गमन का हेतुत्व धर्म द्रव्य को बतलाता है, क्योंकि—

(१) काल और पुद्‌गल एकप्रदेशी हैं, अतः उनके वह संभवित नहीं होता।

(२) जीव समुद्‌घात के अतिरिक्त अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र होने से उसके वह संभवित नहीं होता।

(३) लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह संभवित नहीं होता।

(४) और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से अधर्म के वह संभवित[१] नहीं होता।

४—सहकारी—(१) सहकारी का अर्थ निमित्तमात्र[१] है। जैसे सिद्ध भगवान् उदासीन हैं, तो भी सिद्धगुणानुराग में परिणत भव्य जीवों को सिद्धगति के लिये सहकारी कारण हैं। उसी प्रकार धर्मद्रव्य भी, अपने स्वभाव से ही गतिपरिणत जीव-पुद्‌गलोंका उदासीन (तथापि गतिका) सहकारी[२] कारण है। गाथा मे लोकप्रसिद्ध जल और मछली का दृष्टान्त दिया है। (२) स्वयमेव गमनादि क्रियारूप प्रवर्तमान जीव और पुद्‌गलों को धर्मास्तिकाय सहकारी कारण है।[३] उसमे उसका कारणत्व इतना

१—प्रवचनसार गा० १३३–१३४ पृ० २३३.

१–२—पंचास्तिकाय, गाथा ८४ श्री जयसेनजी की टीका पृष्ठ १४२. (हिन्दी पृष्ठ १४२ में 'निमित्तमात्र' पं० हेमराज जी ने कहा है। गाथा ८४ में दो बार, गाथा ८५ मे तीन बार 'निमित्तमात्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है।)

३—गोम्मट्टसार जीवकाण्ड गा० ५६७, बृहत् टीका।

ही है: कि जहां धर्मादि द्रव्य होते हैं वहीं जीव-पुद्गल गमनादि क्रियारूप प्रवर्तित होते हैं।

५—प्रदेश इस द्रव्य के प्रदेश लोकप्रमाण असंख्यात हैं, और वह एक अखण्ड लोकव्यापी द्रव्य है। (२५ वीं गाथा में यह स्पष्टता की गई है।)

तात्पर्य—धर्म और अधर्म स्वतंत्र द्रव्य हैं। यहां इनका अर्थ पुण्य-पाप नहीं समझना चाहिये। यद्यपि पांच द्रव्य जीव के निमित्त हैं तथापि उसे दुःख का कारण (निमित्त) जानकर अक्षय अनंत सुखादिकारण विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग स्वभाव निज-परमात्म द्रव्य को ध्येय बनाकर साधक को उसमें अनुष्ठान* करना कर्तव्य है ॥ १७ ॥

अधर्म द्रव्य का लक्षण

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

स्थानयुतानां अधर्मः पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी।
छाया यथा पथिकानां गच्छतां नैव सः धरति। १८॥

अन्वयार्थः—(स्थानयुतानां) स्थिर हुये (पुद्गलजीवाना) पुद्गल और जीव द्रव्यों को (स्थानसहकारी) स्थिर रहने में सह-कारी (अधर्म) अधर्म द्रव्य है। (यथा) जैसे (पथिकाना) मुसाफिरों को (छाया) छाया। किन्तु (स) वह अधर्म द्रव्य (गच्छतां) चलते हुये जीव और पुद्गल द्रव्यों को (नैव धरति) कदापि रोक नहीं रखता है।

---

* श्री प्रवचनसार गा० १३३-१३४ श्री जयसेनाचार्य की टीका।

भावार्थ —१–गतिपूर्वक स्थिति—स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमित जीव और पुद्गलों के स्थिर रहने में जो निमित्त हो उसे अधर्मास्तिकाय द्रव्य कहते हैं। जैसे मुसाफिर के स्थिर रहने में वृक्ष की छाया। सर्वदा स्थिर रहने वाले धर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्य (जो अनादि से स्थिर ही हैं) की स्थिति में अधर्म द्रव्य की निमित्तता नहीं है।

२–स्थितिकारणत्व अधर्मास्तिकाय द्रव्य का स्थिति कारणत्व[1] विशेष गुण है। इस द्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में यह गुण नहीं है।

३ एक ही काल मे सबका निमित्त एक ही काल मे (गतिपूर्वक) स्थितिपरिणत समस्त जीव–पुद्गलों को लोक तक स्थिति का हेतुत्व अधर्म द्रव्य को बतलाता है, क्योंकि—

(१) काल और पुद्गल एकप्रदेशी हैं, इसलिये उनके वह संभव नहीं है।

(२) जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असख्यातवें भाग मात्र होने से उनके वह संभव नहीं है।

(३) लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह संभव नहीं है।

(४) और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से धर्मद्रव्य के भी वह संभव नहीं है।[2]

१–प्रवचनसार गा० ९५, पृ० १५०.

२–प्रवचनसार गाथा १३३-३४, पृष्ठ २३४.

४–सहकारी—गाथा १७ का पैरा ४ यहां भी लागू होता है।[1]

५–प्रदेश—गाथा १७ का पैरा ५ यहां भी लागू होता है।

तात्पर्य—(१) गाथा १७ का पैरा ६ देखिये। (२) यहां आशय यह है कि—जो द्रव्य गमन का निमित्त है जो द्रव्य स्थिति का कारण है, और फिर जो द्रव्य सबको स्थान देने में प्रवीण है उन सब को सम्यक् द्रव्य रूप मे अवलोकिन करके (यथार्थतया स्वतंत्र द्रव्य के रूप में समझ कर) भव्य समूह सर्वदा निजतत्व मे प्रवेश करो[2]।

सूत्रार्थ यह है कि—जैसे शुद्धात्मस्वरूप में स्थिति का कारण निश्चय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन है और व्यवहार से अर्हन्त सिद्धादि परमेष्ठी के गुणों का स्मरण है वैसे ही जीवपुद्गलों की स्थिति का निश्चयकारण अपना उपादानकारण है तथा व्यवहारकारण अधर्म द्रव्य है ॥ १८ ॥

आकाश द्रव्य का लक्षण

अवगासदाणजोग्गं जीवादीण वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥ १९ ॥

अवकाशदानयोग्यं जीवादीनां विजानीहि आकाशम्।
जैनं लोकाकाशं अलोकाकाशं इति द्विविधम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(जीवादीना) जीवादि द्रव्यों को (अवकाशदानयोग्यं) अवकाशदान के योग्य (जैनं) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा दर्शित

१—पंचास्तिकाय गाथा ८६, पृष्ठ १४४ जयसेनाचार्य की टीका।
२—नियमसार गा० ३० श्लोक ४६, पृ० ६४–६५.

(आकाशं) आकाश द्रव्य (विजानीहि) जानना चाहिये। यह आकाश द्रव्य (लोकाकाश) लोकाकाश और (अलोकाकाश) अलोकाकाश (इति) ऐसे (द्विविध) दो प्रकार का है।

भावार्थ—१–अवकाशदान योग्य—षड् द्रव्यात्मक लोक में शेष सभी[1] द्रव्यों को सम्पूर्णतया अवकाश का निमित्त है वह आकाश है, जो कि विशुद्ध क्षेत्ररूप है।

२–एक ही काल मे सर्व द्रव्यों का अवगाहन—एक[2] ही काल में सर्व द्रव्यों का साधारण अवगाह की निमित्तभूतता आकाश को बतलाती है। क्योंकि शेष द्रव्य सर्वव्यापक नहीं हैं इसलिये उनके वह संभव नहीं है।

३–सर्वव्यापी—(१) आकाश एक सर्वव्यापी अखण्ड द्रव्य है, किन्तु उसमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यों के होने से आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश—ऐसे दो भेद हो जाते हैं। यदि लोक में धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं होते तो लोक-अलोक-ऐसे दो भेद नहीं पड़ते[3]। (देखो आगामी गाथा २०) इस आकाश के बीचोंबीच[4] लोकाकाश है जिसमें जीवादि पदार्थ रहते हैं। (२) सिद्ध भगवान् या किसी भी द्रव्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि

१—निश्चयनय से नित्य निरंजन ज्ञानमय परमानंद जिनका लक्षण है ऐसे अनन्तानन्त जीव, उनसे अनन्तगुने पुद्गल, असंख्य कालाणु और असंख्यातप्रदेशी धर्म तथा अधर्म—ये सभी द्रव्य विशिष्ट अवगाहन द्वारा लोकाकाश मे (यद्यपि लोकाकाश तो मात्र असंख्यात प्रदेशी है तथापि) अवकाश प्राप्त करते हैं। (पंचास्तिकाय गा० ९० पृ० १४३)

२—प्रवचनसार गा० १३३–१३४ टीका, पृ० २३३.

३—पचास्तिकाय गा० ८७ टीका, पृ० १३८

४—वृ० द्रव्यसंग्रह पृ० ५१.

जो लोकाकाश के विस्तार को बढा सके और अलोकाकाश को कम कर सके। (प्रत्येक द्रव्य में अकर्तृत्व गुण होने से पर का कोई कुछ नहीं कर सकता। यदि करे तो दोनों द्रव्यों का नाश हो जाये।)

तात्पर्य—जो गाथा १७-१८ में कहा है वह यहा भी लागू होता है। शुद्धबुद्ध एकस्वभाव* मोक्ष का कारण है। इसलिये सर्व प्रकार से उपादेयरूप शुद्ध जीवास्तिकाय से आकाश द्रव्य भिन्न है, इसलिये वह हेय है ॥ १९ ॥

लोकाकाश और अलोकाकाश का लक्षण

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥ २० ॥

धर्माधर्मौ कालः पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके।
आकाशे सः लोकः ततः परतः अलोकः उक्तः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(यावतिके) जितने (आकाशे) आकाश में (धर्माधर्मौ) धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, (काल) काल द्रव्य, (च) और (पुद्गलजीवा) पुद्गल द्रव्य तथा जीव द्रव्य (संति) रह रहे हैं (सः) वह (लोकः) लोकाकाश× कहलाता है। (तत) उस-लोकाकाश से (परत.) परे-बाहर (अलोक) अलोकाकाश (उक्त) कहलाता है।

---

* पंचास्तिकाय गा० ५० का शीर्षक, पृ० १४९ हिन्दी।

× 'यह पुण्यपापफललोकनं स लोक '—जहां पुण्य और पाप के सुख और दुःखरूप फल देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं। वह जीव मे पाया जाता है। जीव द्रव्य लोकाकाश में ही रहता है। अथवा 'लोक्यन्ते-दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक'—जहाँ जीवादि द्रव्य देखे जाते हैं उसे लोक कहते है।

भावार्थः—१ लोकाकाश-अलोकाकाश—(१) जितने स्थान में सभी द्रव्य मालूम हों वह लोकाकाश है। और लोकाकाश के बाहर जो केवल आकाश है वह अलोकाकाश है। (२) लोक के ३ भाग हैं- ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। इन्हीं को तीन लोक कहते हैं और यही लोकाकाश है। इससे बाहर अनंत अलोकाकाश है।

२—लोक अनादिनिधन है—(१) यह लोक अनादि-अनंत है। इसे किसी पुरुष ने बनाया नहीं है। इसका कोई नाश नहीं कर सकता। इसे किसी ने न तो धारण किया है और न कोई इसकी रक्षा करता है। (२) इस लोक में जो जीवादि पदार्थ[1] हैं वे पृथक्-पृथक् अनादिनिधन हैं। उनकी अवस्था का परिवर्तन होता रहता है, इस अपेक्षा से उन्हें उत्पन्न होने वाला और विनाश होने वाला कहते हैं। जो स्वर्ग, नरक, द्वीपादि हैं वे अनादिकाल से ऐसे ही हैं और सदैव ऐसे ही रहेंगे। जीवादिक और स्वर्गादिक स्वयंसिद्ध हैं। संसार में जो जीव हैं वे ही यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्षमार्ग-साधन करके सर्वज्ञ-वीतराग होते हैं तब उन्हें परब्रह्म कहा जाता है। कोई अलग से इस जगत का कर्ता परब्रह्म नहीं है।

३—अल्प प्रमाण वाले लोकाकाश में अनंत द्रव्य कैसे रह सकते हैं?

प्रश्न—इस[2] असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश मे अनंत जीव रहते हैं, उनसे अनंतगुने पुद्गल रहते हैं। लोकाकाश के असंख्य प्रदेशों के बराबर असंख्यात कालाणु रहते हैं तथा समस्त लोका-

---

१—मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ५ पृ० १६१.

२- वृ. द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ५२, पं० हीरालालजी कृत द्रव्यसंग्रह पृ. ६६ ६७

काश में धर्म और अधर्म द्रव्य भी व्याप्त हैं, तब फिर इस अल्प प्रमाण वाले लोकाकाश मे इतने अनन्त द्रव्य कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—(१) जैसे एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है (२) जैसे एक गूढ़ रसविशेष से भरे हुए शीशे के पात्र मे बहुत-सा सुवर्ण अवकाश प्राप्त करता है, (३) जैसे दूध के भरे हुये घड़े मे उतने ही प्रमाण मे राख और सुइयां बराबर समा जाती हैं, उसी प्रकार आकाश-द्रव्य की विशिष्ट अवकाशदान शक्ति से उपरोक्त अनत द्रव्य भी लोकाकाश में समा जाते हैं, उनके रहने मे कोई बाधा नहीं आती।

आकाश द्रव्य स्वयं अमूर्त है, इसलिये अमूर्त मे अनंत अमूर्त जीव तथा धर्म-अधर्म द्रव्य एवं कालाणु (जो अमूर्त हैं वे) निराबाध अवकाश प्राप्त करते हैं। पुद्गल भो दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और स्थूल। अनन्त-बहुभाग पुद्गल सूक्ष्म रूप में ही आकाश में व्याप्त हैं। जो अल्प भाग मे स्थूल पुद्गलस्कध हैं वे लोकाकाश मे समा सकते हैं।

(४) अवकाशदान न मानने में दोष—यदि इस प्रकार की अवकाश-दान की शक्ति न हो तो लोक के असंख्यात प्रदेशों में असंख्यात परमाणुओं का ही निवास हो, और यदि ऐसा हो तो समस्त जीव जैसे शुद्ध निश्चय से शक्तिरूप से निरावरण तथा शुद्धबुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं वैसे ही व्यक्तिरूप से व्यवहार नय से भी हो जायेंगे, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष और आगम का विरोध है।

तात्पर्य—इस प्रकार[१] यथार्थ श्रद्धान द्वारा सब पदार्थों को अकृत्रिम, पृथक्-पृथक् अनादिनिधन मानना चाहिये। यदि जीव

१—मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय-५ पृष्ठ १६१.

निरर्थक भ्रम द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय न करे तो वह जाने, क्योंकि अपने श्रद्धान का फल वही प्राप्त करता है ॥ २० ॥

काल द्रव्य का लक्षण और उसके भेदों का स्वरूप—

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ २१ ॥

द्रव्यपरिवर्तनरूपः यः सः कालः भवेत् व्यवहारः ।
परिणामादिलक्ष्यः वर्त्तनालक्षणः च परमार्थः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—(यः) जो (द्रव्यपरिवर्तनरूपः) द्रव्य परिवर्तन में मिनट, घण्टा, दिन, महीना इत्यादि रूप है और (परिणामादि-लक्ष्यः) परिणमन आदि लक्षणों से जाना जा सकता है । (सः) वह (व्यवहारकालः) व्यवहारकाल (भवेत्) है । (च) और (वर्तनालक्षणः) वर्तना लक्षण वाला (परमार्थः) परमार्थ काल है ।

भावार्थः—१—व्यवहारकाल-निश्चयकाल.— 'समय'* नामक जो क्रमिक पर्याय है वह व्यवहारकाल है, और उसका आधारभूत द्रव्य निश्चयकाल है ।

२—काल सम्बन्धी ज्ञान कराने के लिये कथनपद्धतिः— (१) व्यवहारकाल निश्चयकाल की पर्याय है (वह वास्तव में अपने द्रव्य से ही उत्पन्न होती है) फिर भी वह जीव-पुद्गलों के परिणमन से नापे जाने तथा ज्ञात होने के कारण जीव-पुद्गलों के परिणमन से उत्पन्न हुआ कहा जाता है । (व्यवहारकाल को सिद्ध करने के लिये ही ऐसा कहने की शास्त्र-पद्धति है) ।

---

* पंचास्तिकाय. गाथा-१००, टीका. पृष्ठ १५४.

(२) जीव-पुद्गलों के परिणाम बहिरंगद्रव्यभूत द्रव्यकाल के सद्भाव में उत्पन्न होते हैं इसलिये वे द्रव्यकाल से उत्पन्न हुये कहे जाते हैं। (निश्चयकाल की सिद्धि करने के लिये ही कहने की शास्त्र-पद्धति है, वास्तव में वह परिणाम तो अपने उपादानकारण से होता है)।

३—काललब्धि के वश—प्रश्नः—'जीव काललब्धि के वश अनन्त सुख का भाजन होता है' जहां ऐसा कथन हो वहाँ क्या अर्थ करना चाहिये?

उत्तर—(१) यह कथन कालद्रव्य के निमित्तत्व की सिद्धि करने के लिये होता है, इसलिये वहां (उपरोक्त पैरा नं० २ में कथित पद्धति से) कालद्रव्य से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। (२) विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठान, बहिर्द्रव्यइच्छानिवृत्ति लक्षण, तपश्चरणरूप अर्थात् निश्चय चतुर्विध आराधना उपादानकारण से सुख प्राप्ति होती है, काल से नहीं,—ऐसा समझना चाहिये। काल तो हेय* है (काललब्धि हेय है।)

४—उपादान कार्यरूप परिणमित हो तो काल निमित्त कहलाता है, यदि परिणमित न हो तो नहीं कहलाता.—

(१) समस्त विकल्परहित वीतराग चारित्र ही त्रिकाल

* वृ० द्रव्य संग्रह गाथा—२१, पृ० ५५। उपरोक्तानुसार कथन अन्य शास्त्रों में भी है। जैसे श्री रायचन्द्र शास्त्रमाला-पंचास्तिकाय पृ० ४२, पृ० १९०, पृ० २१७, [अपना उपादानकारण-उपादेय है और काल (लब्धि) हेय है] मोक्षपाहुड गाथा २४ में 'कालादि लब्धि' भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा १८८, २१९, २४४, ३२१ से ३२३ ४१८ में प्रयुक्त किया है, वहाँ भी उपरोक्तानुसार ही अर्थ करना चाहिये।

मुक्ति-कारण है।[1] उसके अभाव में काल मुक्ति का सहकारी कारण भी नहीं होता, इसलिये वह हेय है।

(२) इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि निमित्तकारण हेय है और जहां उपादानकारण होता है वहीं निमित्तकारण का उपचार उचित पदार्थ पर आ सकता है, उसके बिना कदापि नहीं। इसलिये जिस जीव ने आत्मसन्मुख होकर धर्मपरिणति प्रगट की हो उसी को काललब्धि का यथार्थ ज्ञान होता है। ऐसा न हो तो वह [2]एकान्त कालवादी है, वह काललब्धि को यथार्थ रूप में नहीं मानता।

५—काललब्धि का मोक्षमार्ग में स्थान—अनेकांत सिद्धान्त-स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्य और कर्मोपशमादि—इन पांच कारणों का मिलाप (समवाय) प्रति समय एक ही साथ मोक्षमार्ग में होता है, ऐसा श्री जैनधर्म का अनेकान्त सिद्धान्त है। पूर्वोक्त कारणों में काललब्धि और भवितव्य तो कोई वस्तु नहीं है; किन्तु जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि है; तथा जो कार्य हुआ वही भवितव्य है। (अर्थात् आत्मा को उसमें कुछ भी नहीं करना होता है) जो कर्म के उपशमादिक हैं वे तो पुद्गल की शक्ति हैं, उनका कर्ताहर्ता आत्मा नहीं है, तथा जो पुरुषार्थपूर्वक उद्यम किया जाता है वह आत्मा का कार्य है,

---

१ वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा २२, पृष्ठ-५९ वीतराग चारित्र के साथ अविनाभावरूप से निश्चयसम्यक्त्व होता है। मोक्षपाभृत की गाथा ८८ में कहा है कि "अधिक कथन क्या करें? जो श्रेष्ठ पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे वह सब सम्यक्त्व की महिमा है।"

२ गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा-८७९.

इसलिये आत्मा को पुरुषार्थपूर्वक (स्वसन्मुख होने का) उद्यम करने का उपदेश देते हैं। जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य होती है उस कारणरूप (स्वसन्मुख होने रूप) उद्यम आत्मा करे वहां अन्य कारण तो मिल ही जाते हैं (उन्हें मिलाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता) इस प्रकार काललब्धि* निमित्तमात्र है—हेय है, उस ओर की वृत्ति (झुकाव) केवल राग उत्पन्न करती है इसलिये काललब्धि का आश्रय छोड़कर निज ज्ञानस्वभाव का आश्रय करना चाहिये।

तात्पर्य.—जीव [1]आगमभाषा में कालादि लब्धिरूप, अध्यात्म भाषा में शुद्धात्माभिमुख (शुद्धात्मसन्मुख) परिणामरूप स्वसंवेदन प्राप्त करता है तब मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम होता ही है। [2]समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी आदि भेद व्यवहारकाल के हैं, परन्तु शुद्ध एक निरुपम तत्त्व को छोड़कर उस काल से मुझे कोई लाभ नहीं है (ऐसा निश्चय करना चाहिये)। जहां कोई भी निमित्त या उपादानकारण कहा हो वहां पांचों कारण होते हैं, ऐसा अर्थ करना ही सच्चा स्याद्वाद (नयवाद) है[3] ॥ २१ ॥

---

* मोक्षमार्ग प्रकाशक, अ० ९ पृष्ठ ४५६ दिल्ली से प्रकाशित.

१ पंचास्तिकाय गाथा १५० ५१ श्री जयसेनाचार्य टीका पृ. २१७ हिन्दी।

२—नियमसार गाथा ३१, कलश ४७ पृष्ठ ६७.

३—समयसार नाटक (बनारसीदास जी) सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार श्लोक ४२-४३, पृ० ३३४-३६, ('एक मे अनेक खोजे सो सुदृष्टि है') तथा "इन पांच को सर्वांगी मानना सो शिवमार्ग है" ऐसा कहा है।

निश्चयकाल का विशेष लक्षण

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ॥ २२ ॥

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिताः हि एकैकाः ।
रत्नानां राशिः इव ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि २२॥

अन्वयार्थ (एकैकस्मिन्) एक एक (लोकाकाशप्रदेशे) लोकाकाश के प्रदेश पर (ये) जो (एकैका) एक एक (कालाणवः) कालाणु (रत्नाना) रत्नों की (राशिः इव) राशि की भांति (हि) पृथक् पृथक् स्थिता.) रहते हैं (ते) वे कालाणु (असंख्यद्रव्याणि) असंख्य द्रव्य हैं ।

भावार्थ—लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भांति पृथक् पृथक् कालाणु रहते हैं । जैसे रत्नो का ढेर करने पर प्रत्येक रत्न अलग-अलग रहता है उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु अलग-अलग है । लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं. इसलिये कालद्रव्य भी असख्यातद्रव्य हैं । इन कालाणुओं के निमित्त से सभी द्रव्यों की अवस्था बदलती है ॥२२॥

द्रव्यों का उपसंहार और अस्तिकाय

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥ २३ ॥

एवं षड्भेदं इदं जीवाजीवप्रभेदतः द्रव्यम् ।
उक्तं कालवियुक्तम् ज्ञातव्याः पंच अस्तिकायाः तु ॥२३॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (जीवाजीवप्रभेदतः) जीव और अजीव के प्रभेदों से (इदं) यह (द्रव्यं) द्रव्य (षड्भेदं) छह प्रकार का (उक्तं) कहा गया है। (तु) उसमे (कालवियुक्तं) कालद्रव्य को छोड़कर (पंच अस्तिकायाः) पांच अस्तिकाय (ज्ञातव्याः) जानना चाहिये ।

भावार्थ—द्रव्य के मुख्य दो भेद हैं—जीव और अजीव । अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे पांच भेद हैं । कुल छह द्रव्य हैं, इनमें से काल को छोड़कर शेष पाच द्रव्य 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं ॥ २३ ॥

अस्तिकाय का लक्षण

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य । २४ ॥
सन्ति यतः तेन एते अस्ति इति भणन्ति जिनवराः यस्मात् ।
कायाः इव बहुदेशाः तस्मात् कायाः च अस्तिकायाः च ॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (एते) यह पाच अस्तिकाय (सन्ति) है (तेन) इसलिये (जिनवरा) जिनेन्द्र भगवान (अस्ति) "अस्ति" (इति) ऐसा (भणन्ति) कहते हैं। (यस्मात) क्योंकि (काया इव) काय की भांति (बहुदेशा) बहुप्रदेशी हैं, (तस्मात) इसलिये (कायाः) वे 'काय" कहलाते हैं । (च) और वे एकत्रित होकर (अस्तिकायाः च) "अस्तिकाय" कहलाते हैं ।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश यह पाच द्रव्य हैं। इन्हें 'अस्ति' कहा जाता है और यह काय की भांति बहुप्रदेशी हैं इसलिये इन्हें 'काय' कहते हैं। इस कारण से

यह पांच द्रव्य 'अस्तिकाय' हैं। क्योंकि कालाणु एक एक प्रदेश वाला होता है इसलिए उसकी काय संज्ञा नहीं है। उसमें अस्ति-पना नहीं है, इस कारण से उसे अस्तिकाय में नहीं गिना गया ॥ २४ ॥

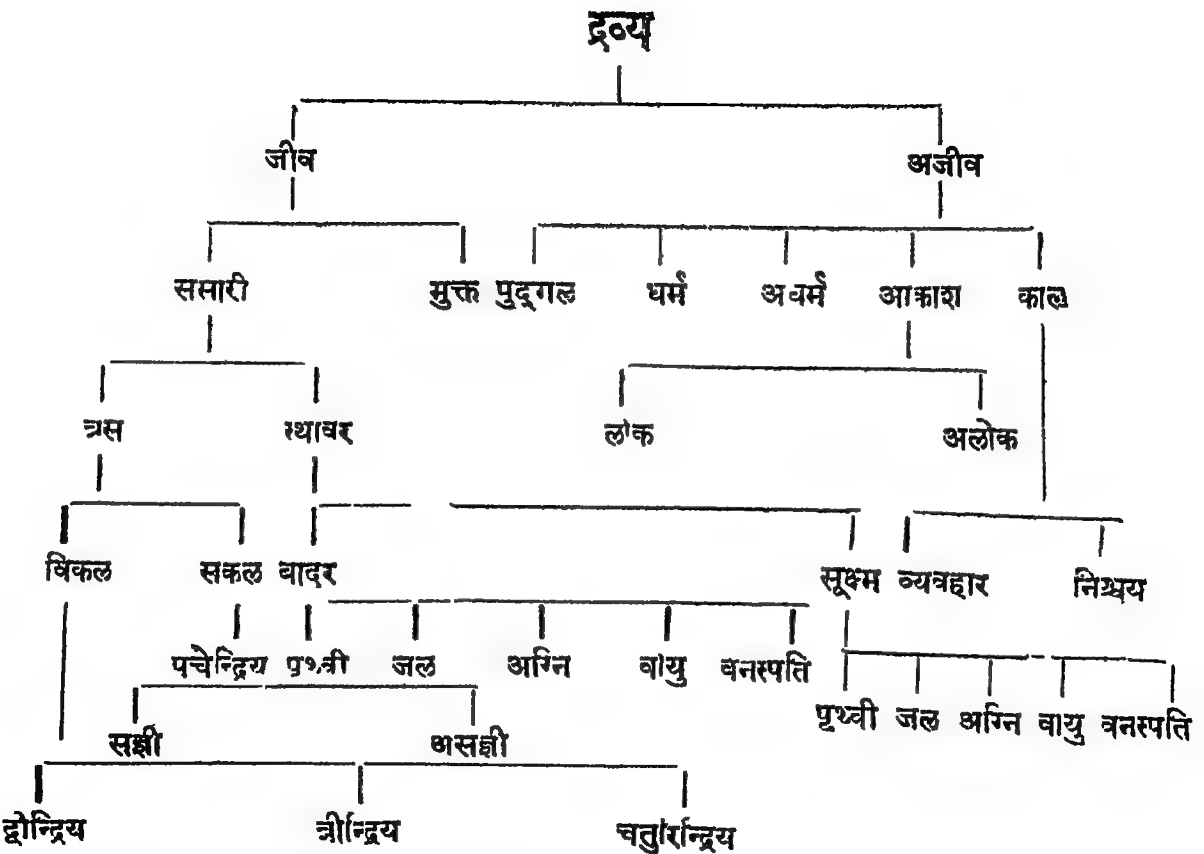
द्रव्यों की प्रदेशसंख्या

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥

भवन्ति असंख्या। जीवे धर्म्माधर्म्मयोः अनंताः आकाशे ।
मूर्त्ते त्रिविधाः प्रदेशाः कालस्य एकः न तेन सः कायः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(जीवे) एक जीव में (धर्म्माधर्म्मयो) धर्म और अधर्म द्रव्यों मे (असंख्याः) असख्यात (आकाशे) आकाश द्रव्य में (अनन्ता.) अनंत और (मूर्त्त) पुद्गल में (त्रिविधाः) तीन प्रकार के अर्थात् सख्यात, असंख्यात और अनंत (प्रदेशाः) प्रदेश हैं और (कालस्य) काल द्रव्य का (एक') एक प्रदेश है (तेन) इसलिये (न सः काय') वह कालद्रव्य कायवान नहीं है ।

भावार्थः—एक जीव समस्त लोकाकाश में प्रसारित हो सकता है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं, इसलिये जीव असं-ख्यातप्रदेशी है। धर्म और अधर्म भी समस्त लोकाकाश मे तिल में तेल की भांति भरे हुए विस्तृत हैं, इसलिये वे दोनों द्रव्य भी असंख्यातप्रदेशी हैं। आकाश के अनंत प्रदेश हैं, क्योंकि आकाश लोकाकाश के बाहर भी है—उसकी कोई मर्यादा नहीं है। पुद्गल द्रव्य के अनन्त परमाणु हैं, परन्तु एक परमाणु अलग भी होता है और दो, चार, बीस, हजार, लाख आदि परमाणु मिलकर छोटा अथवा बड़ा स्कंध होता है। इस कारण से पुद्गल को


द्रव्य
जीव
अजीव
संसारी
मुक्त
पुद्गल
धर्म
अधर्म
आकाश
काल
त्रस
स्थावर
लोक
अलोक
विकल
सकल
बादर
सूक्ष्म
व्यवहार
निश्चय
पंचेन्द्रिय
पृथ्वी
जल
अग्नि
वायु
वनस्पति
पृथ्वी
जल
अग्नि
वायु
वनस्पति
सञ्ज्ञी
असञ्ज्ञी
द्वीन्द्रिय
त्रीन्द्रिय
चतुरिन्द्रिय

संख्यात, असंख्यात तथा अनंत प्रदेशी कहा जाता है। काल के अणु एक-एक अलग रहते हैं, वे मिलकर स्कंध नहीं होते। इस कारण से कालद्रव्य कायवान नहीं है॥२५॥

पुद्गलपरमाणु कायवान है

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु॥२६॥
एकप्रदेशः अपि अणुः नानास्कन्धप्रदेशतः भवति।
बहुदेशः उपचारात् तेन च कायः भणन्ति सर्वज्ञाः॥२६॥

अन्वयार्थः—(एकप्रदेश. अपि) एकप्रदेशी होने पर भी (अणु) पुद्गल परमाणु (नानास्कन्धप्रदेशत. विविध स्कंधरूप प्रदेश वाला होता है, इस कारण (बहुदेश) बहुप्रदेशी (भवति) होता है (च) और (तेन) इसी कारण (सर्वज्ञाः) सर्वज्ञ देव पुद्गल परमाणु को (उपचारात) उपचार से (काय) कायवान (भणन्ति) कहते हैं।

भावार्थ—पुद्गल का एक परमाणु अनेक प्रकार के स्कंधों में मिलने के कारण विविध स्कधरूप हो सकता है, इसलिये उसे कायवान कहते हैं, परन्तु कालाणु विविध स्कंधरूप नहीं हो सकता इसलिये कालाणु एकप्रदेशी है, कायवान नहीं है॥२६॥

प्रदेश का लक्षण

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥२७॥
यावतिकं आकाशं अविभागिपुद्गलाण्वष्टब्धम्।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणुस्थानदानार्हम्॥२७॥

अन्वयार्थ—(यावतिकं) जितना (आकाशं) आकाश (अविभागीपुद्गलाण्ववष्टब्धं) पुद्गलपरमाणु द्वारा व्याप्त है (तं) उसे (खलु) वास्तव में (सर्व्वाणुस्थानदानार्हम्) सर्व अणुओं को स्थान देने योग्य (प्रदेशं) प्रदेश (जानीहि) जानना चाहिये ।

भावार्थ—आकाश के जितने क्षेत्र में पुद्गल का सबसे छोटा टुकड़ा आ जाय उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं, इस प्रदेश में धर्म और अधर्म द्रव्य के प्रदेश, कालाणु और पुद्गल के अनेक अणु ऐसे समा जाते हैं जैसे लोहे के अन्दर आग । इसलिये प्रदेश को समस्त द्रव्यों के अणुओं को स्थान देने योग्य कहा है । छोटे से छोटे अणु को (जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता उसे) परमाणु कहते हैं ॥ २७ ॥

* अजीवाधिकार सम्पूर्ण *

प्रथम अधिकार समाप्त ।



प्रथम अधिकार का सारांश

इस अधिकार का सार यह है कि—

(१) जीव को मोह (रागद्वेष, पुण्यपाप) के साथ एकत्वबुद्धि है, उसे छोड़कर अपनी आत्मा का अनुभव करना चाहिये । मेरा आत्मस्वरूप सर्वतः निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण भाववाला है । इसलिये यह मोह मेरा कोई नहीं लगता अर्थात् इसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजपुञ्ज का निधान हूँ । ऐसा निश्चय करके स्वतः अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव* करना चाहिये ।

---

* समयसार कलश ३०, पृष्ठ–७७ ।

(२) मेरी प्रचण्ड चिन्मात्र शक्ति द्वारा ग्रासीभूत किये जाने के कारण मानों अत्यन्त अंतर्मग्न रहे हों, ज्ञान मे तदाकार निमग्न हो रहे हों—इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान हैं—ऐसे यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीव—यह समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावपने के कारण परमार्थत. अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूं और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभावी होने के कारण परमार्थतः बाह्य तत्त्वपने को छोडने में असमर्थ हैं।

और फिर यहां स्वयमेव नित्य उपयुक्त तथा परमार्थतः एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ ऐसा भगवान आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूं, इसलिए ज्ञेय-ज्ञायक स्वभाव मात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन होने पर भी प्रगट स्वाद मे आने वाले स्वभाव के भेद के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूं, क्योंकि सदा अपनेमे एकत्व को प्राप्त होनेके कारण आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ ज्यों का त्यों स्थित* रहता है।

इस प्रकार भावक-भाव से तथा ज्ञेयभावों से जीव को भेदज्ञान करना चाहिये—यह इस अधिकार का सार है।



* समयसार गाथा ३७, पृष्ठ ७९।

द्वितीय अधिकार

आस्रवादि पदार्थों का वर्णन

आसववंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे ।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥ २८ ॥
आस्रवबंधनसंवरनिर्जरमोक्षाः सपुण्यपापा ये ।
जीवाजीवविशेषाः तान् अपि समासेन प्रभणामः ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (आस्रवबंधनसंवरनिर्जरमोक्षा) आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष (सपुण्यपापा) पुण्य और पाप सहित सात तत्त्व हैं, वे (जीवाजीवविशेषा) जीव और अजीव द्रव्य के भेद हैं (तान् अपि) वे भी (समासेन) संक्षेप मे (प्रभणामः) कहते हैं ।

भावार्थ—१—सात तत्त्वो के नाम—जीव, अजीव, *आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्व हैं ।

२—जीव अजीव की व्याख्या—(१) जीव अर्थात् आत्मा वह सदा ज्ञातास्वरूप, पर से भिन्न और त्रिकालस्थायी है ।

---

* जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—यह सात तत्त्व हैं । इनमें पुण्य और पाप मिलाकर नौ पदार्थ कहे जाते हैं । मोक्षमार्ग मे यह नौ पदार्थ अवश्य जानने योग्य हैं । आस्रव इत्यादि मे जीव और अजीव अर्थात आत्मा और कर्म दोनों का सम्बन्ध है । कर्मरहित आत्मा शुद्ध अर्थात् मुक्त कहलता है ।

जीव और अजीव में छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का समावेश हो जाता है ।

ऐसे जीव अनंत हैं। (२) अजीव अर्थात जड़ जिसमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है, ऐसे द्रव्य पांच हैं। इनमे धर्म, अधर्म, आकाश और कालाणु असंख्य हैं और यह चारों अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी-स्पर्श, रस, गंध और वर्ण सहित है। इसकी संख्या अनंतानंत है।

३—जीवतत्व सम्बन्धी भूल—जीव त्रिकाल ज्ञातास्वरूप है। अज्ञान के वशीभूत होकर जीव उसे नहीं जानता और ऐसा मानता है कि जो शरीर है सो मैं ही हूं, शरीर का कार्य मैं कर सकता हूं और ऐसा मानता है कि यदि शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ होगा। बाह्य अनुकूल संयोगों से मैं सुखी हूँ और बाह्य प्रतिकूल संयोगों से दुःखी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं निर्बल हूं, मैं बलवान हूं मैं मनुष्य हूं, मैं कुरूप हूं, मैं सुन्दर हूँ। शरीराश्रित उपदेश तथा उपवासादिक क्रियाओं में अपनत्व मानता है। मैं बोल सकता हूं, मैं खा सकता हूं मैं पी सकता हू मैं पर जीवों का भला-बुरा कर सकता हू,—इत्यादि प्रकार से परद्रव्य की क्रिया का अपने को स्वामी मानता है।

इस प्रकार अज्ञानी जीव पर को स्वस्वरूप मानकर अपने स्वतत्व का (जीवतत्व का) निषेध करता है। निज को निजरूप जानकर उसमें पर का अंश भी न मिलायें और अपना अंश भी पर में न मिलायें ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता।

४—अजीवतत्व सम्बन्धी भूल—मिथ्या अभिप्राय के वशीभूत होकर जीव ऐसा मानता है कि शरीर के उत्पन्न होने से मेरा जन्म हुआ, शरीर का नाश होने से मैं मर जाऊँगा। शरीर धनादि जड़ पदार्थों में परिवर्तन होने से अपने में इष्ट-अनिष्ट परिवर्तन मानना, शरीर की उष्ण अवस्था होने पर मुझे

बुखार आ गया, शरीर की क्षुधा–तृषादि रूप अवस्था होने पर मुझे क्षुधा–तृषादि लग रहे हैं, शरीर के कट जाने से मैं कट गया इत्यादि रूप अजीव की अवस्था को अज्ञानी जीव अपनी अवस्था मानता है । अजीव को अपना साधन–कारण–आधार आदि मानता है, यह उसकी अजीव तत्व सम्बन्धी भूल है, क्योंकि वह अजीव को जीव मानता है । इसमें अजीव को स्वतत्व (जीवतत्व) मानकर मानों वह अजीवतत्व का निषेध करता है ।

५—जीव की मिथ्यादर्शनरूप प्रवृत्ति–प्रत्येक प्रकार से अपने को और शरीर को वह एकरूप मानता है । शरीर की अङ्गभूत स्पर्शनादि द्रव्य इन्द्रियां हैं । अज्ञानी जीव उन सबको एकरूप समझकर यह मानता है कि—हाथ आदि के स्पर्श द्वारा मैंने स्पर्श किया, जीभ के द्वारा मैंने चखा, नाक द्वारा मैंने सूंघा, आँखों द्वारा मैंने देखा और कानों के द्वारा मैंने सुना । वह द्रव्यमन और ज्ञान को एकरूप समझकर ऐसा मानता है कि मैंने मनके द्वारा जाना है ।* यों अनेक प्रकार से मात्र अचेत जैसा बनकर पर्याय मे ही अहंबुद्धि धारण करता है ।

६–जीवकी मिथ्याचारित्ररूप प्रवृत्ति—(१) निजस्वभाव तो ज्ञाता–दृष्टा है । अब केवल वह देखनेवाला—जाननेवाला तो रहता नहीं है, किन्तु जिन जिन पदार्थो को देखता–जानता है उनमें इष्ट–अनिष्टता मानता है और इसीलिये वह रागी–द्वेषी होता है । (२) वह किसी के सद्भाव या किसी के असद्भाव को चाहता है, किन्तु उसका सद्भाव अथवा अभाव इस जीव का किया नहीं होता । (३) क्योंकि कोई एक द्रव्य किसी दूसरे

---

* मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार ४, पृष्ठ ११५ ।

द्रव्य का कर्ता है ही नहीं, अपितु सभी द्रव्य निज निज स्वभाव-रूप परिणमित होते हैं। (४) यह जीव केवल व्यर्थ ही कषाय भाव करके व्याकुल होता है।*

७—आस्रवादि का स्वरूप-तत्सम्बन्धी गाथाओं मे दिया गया है ॥ २८ ॥

भावास्रव और द्रव्यास्रव का लक्षण

आसवदि जेण कम्म परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ २९ ॥
आस्रवति येन कर्म्म परिणामेन आत्मनः सः विज्ञेयः।
भावास्रवः जिनोक्तः कर्म्मास्रवणं परः भवति ॥२९॥

अन्वयार्थः—(आत्मनः) आत्माके (येन) जिस (परिणामेन) परिणाम से (कम्म) कर्म (आस्रवति) आता है (सः) उसे (जिनोक्तः) जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित (भावास्रवः) भावास्रव (विज्ञेयः) जानना चाहिये और (कर्मास्रवण) पुद्गल कर्म का आना सो (परः) द्रव्यास्रव (भवति) है।

भावार्थः—१. आस्रव—विकारी शुभाशुभ भावरूप जो अरूपी अवस्था जीव मे होती है वह भावास्रव है, और उस समय नवीन कर्म योग्य रजकणों का स्वयं स्वतः आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आना) सो द्रव्यास्रव है। (उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्त मात्र है)।

---

* मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार ४, पृष्ठ १२८।

२. अज्ञान दशामें आस्रवका अयथार्थ ज्ञान श्रद्धान

(१) अज्ञानता के कारण जीव मिथ्यात्व कषायादि को अपना स्वभाव मानता है, दर्शन-ज्ञानोपयोग और आस्रवभाव इन दोनों को वह एक सा मानता है, क्योंकि उनका आधारभूत एक आत्मा है और फिर उसका तथा आस्रव भावों का परिणमन एक ही काल में होने से उसे वह भिन्नता भासित नहीं होती।

(२) यह भिन्नता भासित होने मे कारणरूप जो विचार हैं वे मिथ्यादर्शन के बल से नहीं हो सकते।

(३) यह मिथ्यात्वभाव एवं कषायभाव आकुलता सहित हैं, इसलिये वे वर्तमान मे दुःखमय हैं और भविष्य में भी दुःख के ही कारणरूप होंगे। उन्हें इस प्रकार न मानकर किन्तु भला जानकर स्वयं उन भाव-रूप* होकर प्रवर्तित होता है।

३. आस्रव तत्व सम्बन्धी भूल

(१) मिथ्यात्व, रागद्वेष शुभाशुभ भाव आस्रव हैं, वे भाव आत्मा को प्रगट दुःख देने वाले हैं। मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें हितरूप मानकर निरन्तर उनका सेवन करता है। यह उसकी आस्रव तत्व सम्बन्धी भूल है। (२) वह अहिंसादिरूप पुण्यास्रव को भला मानता है, उपादेय मानता है।

तात्पर्य—(१) आस्रव+ अशुचि हैं—अपवित्र हैं और

---

* मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार. ४ पृष्ठ ११८.

* समयसार गाथा ७२.

भगवान आत्मा सदैव अति निर्मल ज्ञायकस्वभाव होने के कारण अत्यंत शुचि पवित्र है ।

(२) आस्रव जड़ स्वभावी हैं, इसलिये वे दूसरों के द्वारा ज्ञात होने योग्य हैं, इसलिये वे चैतन्य से विपरीत स्वभाव वाले हैं । भगवान आत्मा सदैव विज्ञानघनस्वभावी होने से स्वयं ही चेतक है ।

(३) आस्रव आकुलता उत्पन्न करते हैं और भगवान आत्मा सुखरूप है । इस प्रकार दोनों का अन्तर जानकर, पराश्रय छोड़कर निज शुद्धात्मा का आश्रय करना जीवका कर्तव्य है ।

(४) आस्रव* जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखमय हैं दुख ही उनका फल है—ऐसा जानकर निज शुद्धात्म तत्व को जानकर स्वयं स्वाश्रय भाव प्रगट करना चाहिये ॥२९॥

भावास्रवों के नाम और उनके भेद

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया ।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स । ३० ।
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः अथ विज्ञेयाः ।
पंच पंच पंचदश त्रयः चत्वारः क्रमशः भेदाः तु पूर्वस्य ॥३०॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (पूर्वस्य) भावास्रव के (मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि (भेदाः) भेद हैं, (तु) पुनश्च उनके

---

* समयसार गाथा ७४.

(क्रमश.) क्रमसे (पंच) पांच, (पंच) पांच (पंचदशं) पन्द्रह (त्रयः) तीन (चत्वारः) और चार ऐसे बत्तीस भेद (विज्ञेयाः) जानना चाहिये ।

भावार्थ—१ मिथ्यात्व की व्याख्याः-(१) अभ्यन्तर+ मे वीतराग निज आत्मतत्व अनुभूति की रुचि सम्बन्धी विपरीत अभिनिवेश मिथ्यात्व है। (२) × प्रयोजनभूत जीवादि तत्वों के अन्यथा श्रद्धान को तथा अदेव (कुदेव) को देव मानना, अतत्व को तत्व मानना, अधर्म (कुधर्म) को धर्म मानना इत्यादि विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं ।

२. उसके पांच भेद—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) संशय, (४) अज्ञान और (५) विनय मिथ्यात्व। उसकी व्याख्या श्री लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में देखें।

३. अविरति की व्याख्या—(१) निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रतपरिणाम रूप विकार को अविरति कहते हैं। (२) हिंसादि पापों मे तथा पंचेन्द्रिय और मनके विषयों में प्रवृत्ति करना सो अविरति है। (३) *अभ्यन्तर में निजपरमात्म स्वरूप भावना से उत्पन्न जो परम सुखामृत रति है उससे विलक्षण बहिर्विषय में अव्रतरूप भाव सो अविरति है।

४. अविरति के पाच भेद-(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह। इनमें इच्छारूप अविरति पांच प्रकार की है।

+ बृ० द्रव्यसग्रह पृष्ठ ७८-७९ ।

+ लघु जैनसिद्धांत प्रवेशिका पृष्ठ ७८ से ८० ।

+ बृ० द्रव्यसग्रह पृ० ७८-७९ ।

५. प्रमाद की व्याख्या—अभ्यन्तर मे निष्प्रमाद शुद्धात्मा की अनुभूति से चलित होने रूप वहिर्विषय मे मूल–उत्तर गुण मे मलजनक भाव प्रमाद है।

६. योग—कर्मास्त्रव के हेतुभूत आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द होना सो योग है।

७. क्रोधादि कषाय—परम उपशमरूप निज परमात्मस्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषयों में पर के प्रति क्रूरता आदि आवेशरूप जो क्रोधादि हैं सो कषाय है। (उसके उपभेदों के लिये देखिये, चार्ट पृष्ठ सं० ७८)

८. जैनधर्म की आम्नाय—जैनधर्म में ऐसी पद्धति है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया जाये*। इसलिए मिथ्यात्व को सात व्यसनादि से भी महान पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इस मिथ्यात्व–शत्रु का अंश भी बुरा है, इसलिए जो पाप के फल से डरता हो तथा अपनी आत्मा को दुःख समुद्र मे न डुबाना चाहता हो वह जीव इस मिथ्यात्व पाप को अवश्य छोडे।

९. मिथ्यात्वादि सम्बन्धी भूलेः—

(१) अन्य देवादि के सेवन रूप गृहीत मिथ्यात्व को तो जाने किन्तु अनादि अग्रहीत मिथ्यात्व को न पहिचाने।

(२) बाह्य त्रस–स्थावर की हिंसा को तथा इन्द्रिय मन के विषयों मे प्रवृत्ति को तो अविरति जाने किन्तु हिंसा मे प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा मूल है इसे न देखे।

---

* मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ६ पृष्ठ २८२।

भावास्रव के ३२ भेद

मिथ्यात्व ५   अविरति ५   प्रमाद १५   योग ३   कषाय ४

मनर६   वचनर७   कायर८   क्रोधर९   मान३०   माया३१   लोभ३२

हिंसा ६   झूठ ७   चोरी ८   अब्रह्म ९   परिग्रह १०

४   ४   ५   १   १

एकांत१   विपरीत२   विनय३   संशय४   अज्ञान५   विकथा   कषाय   इन्द्रिय   निद्रा२४   प्रणय२५

स्त्री ११   भोजन १२   राष्ट्र १३   राज १४   स्पर्शन१९   रसना२०   घ्राण२१   चक्षु२२   श्रोत्र२३

क्रोध १५   मान १६   माया ~~१६~~ १७   लोभ १८

(३) बाह्य क्रोधादि करने को तो कषाय जाने, किन्तु अभिप्राय में जो राग द्वेष रहता है उसे न पहचाने।

(४) बाह्य चेष्टा को तो योग समझे, किन्तु शक्तिभूत योगों को न जाने।

इस प्रकार आस्रवों के स्वरूप को अज्ञानी जीव अन्यथा* जानता है।

१०. आस्रव और संसार के अभाव का क्रम—

(१) चौथे गुणस्थान मे मिथ्यात्व पहले नष्ट होता है। मिथ्यात्व संसार का मूल है, उसके नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन होता है जो कि धर्म का मूल है। (२) पांचवें गुणस्थान मे अविरति चली जाती है और भावलिंगी श्रावकत्व प्रगट होता है (३) सातवें गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता। (४) ग्यारह-बारहवें गुणस्थानमे कषाय के न होने से यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है। (५) चौदहवें गुणस्थान में योग के न रहने से अयोगी गुणस्थान प्रगट होता है। (६) अन्त मे असिद्धत्व नामक औदयिक भाव का अभाव होने पर सिद्ध दशा प्रगट होता है।

तात्पर्य—पैरा नं० ८ में कही गई जैनधर्म की आम्नाय को स्वीकार करके सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। मुनिपद× का क्रम यह है कि पहले तत्वज्ञान हो फिर सम्यग्दर्शन—

---

* मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ पृष्ठ ३२३।

× यह कैसी विपरीतता है कि तत्वज्ञान रहित और विषयासक्त जीव को माया द्वारा तथा लोभ बतलाकर मुनिपद देकर फिर अन्यथा प्रवृत्ति कराई जाय! किन्तु यह तो महान अन्याय है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ६ पृ० २६४)

ज्ञान हो फिर उदासीन परिणाम हों, परिषहादि सहन करने की शक्ति हो और वह स्वयं ही मुनि होने की इच्छा करे तब श्री गुरु उसे मुनिधर्म अंगीकार करावें। यह विधि (आज्ञा) है, इसलिये तदनुसार वर्तन करना चाहिये ॥३०॥

द्रव्यास्रव के भेद

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेयो जिणक्खादो ॥३१॥
ज्ञानावरणादीनां योग्य यत् पुद्गलं समास्रवति।
द्रव्यास्रवः सः ज्ञेयः अनेकभेदः जिनाख्यातः ॥३१॥

अन्वयार्थः—(ज्ञानावरणादीनां) ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मरूप (योग्य) होने योग्य (यत् पुद्गल) जो कार्मणवर्गणा के पुद्गल (समास्रवत्ति) आते हैं (सः) वे (अनेकभेद·) अनेक भेदवाले (द्रव्यास्रवः) द्रव्यास्रव (ज्ञेय) जानना चाहिये (जिनाख्यात·) ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

भावार्थः—ज्ञानावरणादि* आठ कर्म रूप होने योग्य कार्मण-वर्गणाके जो पुद्गल-स्कन्ध आते हैं उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं ॥३१॥

आठ कर्मों के लक्षण

१—ज्ञानावरण—जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभाव का घात करता है तब आत्मा के ज्ञानगुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

२—दर्शनावरण—जब आत्मा स्वय अपने दर्शनभाव का घात करता है तब आत्मा के दर्शनगुण के घात मे जिस कर्म का उदय निमित्त होता है उसे दर्शनावरण कहते हैं।

भाववंध और द्रव्यबंध का लक्षण

वज्झदि कम्म जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥
बध्यते कर्म येन तु चेतनभावेन भावबन्धः सः ।
कर्म्मात्मप्रदेशानां अन्योन्यप्रवेशनं इतरः ॥ ३२ ॥

३–वेदनीय—आत्माको अनुकूलता या प्रतिकूलताके संयोग प्राप्त होने मे जिस कर्म का उदय निमित्त होता है उसे वेदनीय कहते हैं।

४–मोहनीय—जीव अपने स्वरुप को भूलकर स्व–पर को एकरूप माने अथवा स्वरूपाचरण में असावधानी करे तब उसमें जिस कर्म का उदय निमित्त होता है उसे मोहनीय कहते हैं।

५–आयु—जब जीव अपनी योग्यता से नरक, तिर्यंच, मनुष्य या देव के शरीर मे रुका रहता है तब उसमे जिस कर्म का उदय निमित्त होता है उसे आयुकर्म कहते हैं।

६–नाम—जीव जिस शरीर में हो उस शरीरादि की रचना में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है उसे नामकर्म कहते हैं।

७–गोत्र जीव को उच्च या नीच आचरण वाले कुल में पैदा होने में जिस कर्म का उदय होता है उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

८–अन्तराय—जीव को दान लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य नामक गुणोंकी पर्याय के विघ्न मे जिस कर्म का उदय निमित्त होता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

इस प्रकार आठ कर्मो के ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ एक सौ अड़तालीस भेद हैं। वास्तव में कर्मों के अनन्त भेद हैं।

अन्वयार्थः—(येन) जिस (चेतनभावेन) चैतन्यभाव से (कर्म्म) कर्म (वध्यते) बँधता है (सः) वह परिणाम (भावबंध.) भावबंध है। (तु) और (कर्म्मात्मप्रदेशाना) कर्म तथा आत्मप्रदेशों का (अन्योन्यप्रवेशनं) एक दूसरे मे प्रवेश होना सो (इतर.) द्रव्यबन्ध है।

भावार्थः—१ भावबन्ध की व्याख्या·—अज्ञान, रागद्वेष, पुण्य–पापरूप विभावमें आत्मा का रुक जाना (अटक जाना) सो भावबन्ध है और उस समय कर्मयोग्य पुद्गलों का स्वय स्वत जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से बँधना सो द्रव्यबन्ध है। (उसमें जीवका अशुद्ध भाव निमित्तमात्र है)।

२ जीव और कर्म के बंध में कोई किसी का कर्ता नहीं है—इस *बन्धन में कोई किसी का कर्तारूप नहीं है। जब तक बन्धन रहता है तब तक दोनों का साथ रहता है, किन्तु वे छूटते नहीं हैं। उनमें परस्पर कार्य–कारणभाव (निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध) बना रहता है इतना ही यहा बन्धन समझना चाहिए।

३. बंधतत्त्व सम्बन्धी भूल—जैसी सोने की बेड़ी वैसी ही लोहे की—दोनों बन्धनकर्ता हैं, उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों जीव को बन्धनकर्ता हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा न मानकर पुण्य को अच्छा–हितकारी मानता है। तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य–पाप दोनो अहितकर ही हैं, किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता, यह बन्धतत्त्व की भूल है।

* मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३५।

आस्रव और बंध की व्याख्या तथा उन दोनों के बीच का भेदः—

जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम भावास्रव* हैं और वे मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम जिनके निमित्त हैं ऐसे जो योग के द्वारा प्रवेश होने वाले पुद्गलों के कर्मपरिणाम हैं वे द्रव्यास्रव हैं।

जीव के मोह-राग-द्वेष के द्वारा जो स्निग्धपरिणाम हैं वे भावबन्ध हैं और उन स्निग्धपरिणामों के निमित्त से कर्मरूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य विशिष्ट अवगाहन होना द्रव्यबन्ध है।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम भावास्रव हैं और मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम में स्निग्धता सो भावबन्ध है।

४. तात्पर्य—आत्मोन्मुख होकर स्वद्रव्य का आश्रय करने से नया बन्ध नहीं होता और पुराना बन्ध निर्जरित हो जाता है ॥३२॥

बंध के चार प्रकार और उनके कारण

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥ ३३ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् तु चतुर्विधः बन्धः ।
योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः—(बन्धः) बन्ध (प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से (चतुर्विधः) चार प्रकार का है। उसमें (प्रकृतिप्रदेशौ) प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध

---

* पंचास्तिकाय गाथा १०८, १३५; १३९, १४७ तथा उनकी टीका।

(योगात्) योग से तथा (स्थित्यनुभागौ) स्थितिबन्ध और अनुभावबन्ध (कषायत) से (भवत.) होते हैं।

बंध के चार भेद हैं:—१-प्रकृति २-स्थिति, ३-अनुभाग और ४-प्रदेश। प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थिति और अनुभागबन्ध क्रोधादि कषायों से होते हैं।

१. प्रकृति—कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। जैसे ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों को न जानने में निमित्त होती है और दर्शनावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों को न देखने में निमित्त होती है। जैसे नीम कड़वा और गुड़ मीठा है वैसे ही समस्त कर्मोंकी प्रकृतियाँ समझना चाहिये।

२. स्थिति:—स्वभाव से निश्चित समय तक न छूटना। जिस प्रकार बकरी आदि के दूध में मिठास है, मिठास का न छूटना सो स्थिति है। इसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों का पदार्थों को न जानने देना आदि स्वभाव निश्चित समय तक न छूटना सो स्थितिबन्ध है।

३. अनुभाग—बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में चिकनाहट कम, साधारण तथा विशेष ज्ञात होती है, इसी प्रकार कर्म पुद्गलों की शक्ति विशेष को अनुभाग अथवा अनुभव बन्ध कहते हैं, अर्थात् कर्मफलशक्ति को अनुभाग कहते हैं।

४ प्रदेश—बँधे हुए कर्मपरमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों के साथ एकक्षेत्र में अवगाहनपूर्वक रहना अथवा कर्मों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

भावार्थ:—१ प्रदेश प्रकृतिबन्ध—योग के निमित्त से कर्म का आगमन होता है, इसलिये जो योग है सो आस्रव है—ऐसा कहा है। इस योग द्वारा ग्रहण हुए कर्मपरमाणुओं का

नाम प्रदेश है। उनका बन्ध हुआ तथा उसमें मूल उत्तर प्रकृतियों का विभाग हुआ इसलिये योग के निमित्त से प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है ऐसा समझना[1]।

२. स्थिति-अनुभाग बन्ध जो मिथ्यात्व-क्रोधादिरूप भाव होते हैं उन सबका सामान्यतः 'कषाय' नाम है। उससे कर्म-प्रकृतियों की स्थिति बँधती है तथा अनुभाग शक्ति के भेद होते हैं। इस प्रकार कषायों के निमित्त से स्थितिबंध और अनुभाग बंध होता है ऐसा जानना[2]।

तात्पर्य—यहां ऐसा समझना चाहिये कि नवीन बंध में मोह-राग-द्वेष भाव की ही मुख्यता[3] है। रागादि भावों का अभाव होने पर द्रव्य-मिथ्यात्व, द्रव्य-असंयम, द्रव्य-कषाय, द्रव्य-योग के सद्भाव में भी जीव बंधता नहीं है, इसलिये रागादि भावों को अंतरंग बंधहेतुपना होने के कारण सचमुच वे बंध के हेतु हैं ऐसा निर्णय करना चाहिये[4]। और इन चार बन्धरहित[5] सदा निरुपाधिस्वरूप जो आत्मा सो मैं हूं—ऐसी भावना सम्यग्ज्ञानी को निरन्तर करना चाहिये ॥ ३३ ॥

भावसंवर और द्रव्यसंवर का लक्षण

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो ॥ ३४ ॥

---

१ मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार २, पृष्ठ ४० ।
२ मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार २ पृ० ४० ।
३ पंचास्तिकाय गाथा १४८, पृ० २१७ ।
४ पंचास्तिकाय गाथा १४९, पृ० २१८ ।
५ नियमसार गाथा ९८ टीका तथा कलश १३३, पृ० १८९ ।

चेतनपरिणामः यः कर्म्मणः आस्रवनिरोधने हेतुः ।
सः भावसंवरः खलु द्रव्यास्रवरोधनः अन्यः ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थः—(य.) जो (चेतनपरिणाम) आत्मा का परिणाम (कर्म्मण) कर्म के (आस्रवनिरोधने) आस्रव को रोकने में (हेतु) कारण है (स खलु) वही (भावसंवर) भावसंवर है और (द्रव्यास्रवरोधनः) द्रव्यास्रव का न होना सो (अन्य) द्रव्यसंवर है।

(आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आना रुके उसे भावसंवर तथा द्रव्यास्रव का न होना उसे द्रव्यसंवर कहते हैं)

भावार्थः—१ संवर की व्याख्या —पुण्य-पापरूप अशुद्धभाव को आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार कर्मों का आना स्वयं स्वतः रुकना सो द्रव्यसंवर है।

२ संवर की भूल—(१) निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव को हितकारी हैं (क्योंकि वे संवर-निर्जरारूप हैं), किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें कष्टदायक मानता है। यह उसकी संवर-तत्त्वसंबंधी भूल है। (२) संवरतत्त्व मे अहिंसादि* रूप शुभास्रव-भाव को संवर मानना है, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि एक ही कारण से पुण्यबन्ध भी माना जाय और संवर भी माना जाये।

प्रश्न—मुनि के एक ही काल में दो भाव होते हैं वहा उनके बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है, सो कैसे ?

उत्तर—(१) यह भाव मिश्ररूप होते हैं। कुछ वीतराग और कुछ सराग (२) उसमें जो अंश वीतराग होता है उससे संवर होता है और जो अंश सराग रहता है उससे बन्ध

---

* मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृ० ३३४.

होता है। (३) मिश्रभाव से दो कार्य हो सकते हैं, किन्तु एक प्रशस्तराग से ही पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना केवल भ्रम है। (४) मिश्रभाव में यह पहिचान सम्यग्दृष्टि को ही होती है कि यह सरागता है और यह वीतरागता, इस लिये वह अवशेष सरागभाव को हेयरूप श्रद्धा करता है। (५) किन्तु मिथ्यादृष्टि को ऐसी पहचान नहीं होती, इसलिये वह सरागभाव में संवर के भ्रम से प्रशस्तरागरूप कार्यों को उपादेय-रूप श्रद्धा करता है।

३. चारित्रगुण की मिश्र अवस्था के सम्बन्ध में—चारित्र-गुण का ऐसा स्वभाव है कि चौथे गुणस्थान से उसको आंशिक शुद्धि और आंशिक अशुद्धि होती है। ऐसी दशा दसवें गुणस्थान के अन्त तक रहती है। यथाख्यातचारित्र के प्रगट होने पर वह मिश्रदशा नहीं रहती।

४—चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र* अनंतानु-बंधी कषाय का अभाव होने पर होता है।

प्रश्न—उसका क्या स्वरूप है?

उत्तर—जैसे स्वर्ण को पकाने पर उसकी किट्टकालिमा चली जाती है और स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, वैसे ही जीवद्रव्य के अनादिकालीन अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणाम दूर हो जाते हैं और जीवद्रव्य शुद्ध स्वरूप मात्र शुद्ध चेतनारूप परिणमित होता है। उसे स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं जो कि मोक्षमार्ग है।

इसका विशेष जब तक शुद्ध परिणमन सर्वोत्कृष्ट होता है तब तक शुद्धत्व के अनन्त भेद हैं। वे भेद जातिभेद तो नहीं हैं, किन्तु बहुत शुद्धता, और फिर उससे भी बहुत शुद्धता

* पं० गोपालदास जी कृत हिन्दी जैन सि. प्र. प्रश्न २२२–२२३.

और इससे भी बहुत शुद्धता—ऐसे थोड़े-बहुत रूप भेद हैं। भावार्थ यह है कि जितनी शुद्धता हो उतनी मोक्ष का कारण है। जब सर्वथा शुद्धता हो जाती है तब सम्पूर्ण कर्मक्षयलक्षण मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है[१]।

५ संवर·—संवर[२] शब्द से वाच्य शुद्धोपयोग है। वह संसार के कारणभूत मिथ्यात्व रागादि की भाँति अशुद्ध नहीं है, तथा केवलज्ञान पर्याय की भांति पूर्ण शुद्ध भी नहीं है, किन्तु उन दोनों पर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मा के अनुभवस्वरूप निश्चयरत्नत्रय-मोक्ष का कारण—उस एकदेश व्यक्तिरूप (अर्थात् एकदेश आवरण रहित ऐसी) तीसरे प्रकार की अवस्थान्तर है।

६. शुद्धोपयोग का प्रारम्भ—(१) चौथे गुणस्थान में—अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जाने पर ४१ प्रकृतियों का संवर प्रारभ होता है, यह निश्चयसम्यग्दर्शन की महिमा है। वह प्रथम निर्विकल्प दशा होने पर होता है। वह निर्विकल्प दशा अल्पकाल रहती है और फिर बहुत अन्तरालकाल में होती है। (किन्तु जो शुद्धता हुई है वह चालू रहती है और वह क्रमश बढ़ती है। इस शुद्धता को शुद्ध परिणति कहते हैं। इस प्रकार चौथे गुणस्थान से आंशिक शुद्ध और आंशिक अशुद्ध—ऐसी मिश्र चारित्र पर्याय होती है? यह ऊपर पैरा २-३-४ मे बतलाया गया है।) यह निर्विकल्प दशा ही शुद्धोपयोग[३] है। किन्तु चौथे गुणस्थानमें शुद्धोपयोग बहुत गौण

---

१ समयसार कलश ७, पुण्य-पाप अधिकार टीका पृ० १०७ कलश १०६।

२ बृ० द्रव्यसंग्रह टीका, इस गाथा के नीचे पृ० ८६।

३ गुज० मोक्षमार्ग प्रकाशक में श्री टोडरमलजी की चिट्ठी पृ० ३४९, आत्मावलोकन पृ० १६२-६३-६५.

है और वहां शुभोपयोग प्रचुरता से होता है। इसलिये बहुपद की प्रधानता के कारण "आम्रवन" "निम्बवन" की भांति शुभोपयोग अथवा परम्परा[1] शुद्धोपयोग (निमित्त) साधक शुभोपयोग होता है, ऐसा कहने की शास्त्र की पद्धति है। किन्तु उससे ४-५ गुणस्थान में निर्विकल्प दशा अर्थात् शुद्धोपयोग होता ही नहीं है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु किसी समय[2] होता है।

(१) और फिर, 'अन्तरात्मत्व' तथा 'निश्चयधर्मध्यान' चौथे गुणस्थान से होते हैं। यदि अपनी पर्याय आत्मा के साथ अभेद न होती हो तो 'अन्तरात्मत्व' और धर्मध्यान नहीं कहा जा सकेगा। इसलिये यह निर्णय करना चाहिये कि—[3]इस गुणस्थान में कभी कभी शुद्धोपयोग होता है। और जब वह नहीं होता है तब चारित्र की आंशिक शुद्धिरूप परिणति निरन्तर चालू होती है।

---

१. प्रवचनसार गा० ६ जयसेनाचार्य की टीका पृ० ११ प्र० सार अ. ३ गा ४८ पृ० ३४२. (रायचन्द जैन शास्त्रमाला का)

२ प्रवचनसार पृ० ३४२ जयसेनाचार्य ने आम्रवन-निम्बवन का दृष्टान्त दिया है। पंचास्तिकाय गा० १०६ के बाद एक अतिरिक्त गाथा श्री जयसेनाचार्य ने दी है, तदनुसार व्यवहारमोक्षमार्गी भी किसी किसी समय निर्विकल्प समाधिकाल में निश्चयमोक्षमार्ग को प्राप्त होता है। किन्तु उसके व्यवहार की प्रचुरता होने से व्यवहार की मुख्यता से व्यवहारमोक्षमार्गी कहा है। 'विवक्षितो मुख्य' यह वचन वहाँ लागू होता है पृ० १६९ (रा० जैन शास्त्रमाला)।

३. पं. बटेश्वरशास्त्री की तत्त्वार्थसूत्र की टीका मे (पृ० २६) चथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग कहा है।

(२) पाँचवें गुणस्थान में—उससे शुद्धि विशेष होती है। चौथे गुणस्थान की अपेक्षा से निर्विकल्प अनुभव शीघ्र होता है[१]। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य[२] ने नियमसार, समयसार तथा चारित्र प्राभृत मे कहा है कि श्रावकों के निश्चयरत्नत्रय होता है। श्री अमृतचंद्राचार्य ने समयसार मे, श्री जयसेनाचार्य ने समयसार में तथा प्रवचनसार मे और श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार की टीका में भी ऐसा ही कहा है।

(३) छट्ठे गुणस्थान मे—यहा तीन कषायों का अभाव होता है, इतनी शुद्धपरिणति निरन्तर है। और जितनी अशुद्धि है वह शुभोपयोगरूप है।

(४) सात, आठ, नौ, दसवें गुणस्थान के अन्त तक शुद्धोपयोग के साथ राग (अबुद्धिपूर्वक) होता है, तथापि वहां मुख्यता की अपेक्षा से शुद्धोपयोग कहा है और शुभभाव को गौण मानकर उसे नहीं कहा है।

इस सम्बन्धी कथनपद्धति—(१) निचली दशा में[३] किसी

१—स्व० पं० टोडरमल जी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी। गुजराती मोक्षमार्ग पृ० ३४६, आत्मावलोकन पृ० १६६, वृ० द्रव्यसंग्रह (रा० जैन शास्त्रमाला का) हिन्दी पृ० १५८ में ऐसा ही कहा है।

२—नियमसार गा० १३४, टीका पृ० २६९, समयसार गा० ४१० से ४१४ तथा टीका, चारित्रप्राभृत गा० २०, प्र० सार पृ० ३४२, जयसेनाचार्य। सामायिक कालादि के प्रसंग में श्रावक के शुद्धोपयोग कहा है।

३—४, ५, ६ गुणस्थानों को निचली दशा कहा जाता है। ७ वें गुणस्थान से शुद्धोपयोग ही कहलाता है।

जीव के शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की युक्तता[1] होती है। (इसलिये व्रतादि शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, किन्तु वस्तुतः विचार करने पर शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है।)

(२) द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है इसलिये वहाँ छद्मस्थ जीव जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि तथा हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर आत्मानुभवरूप कार्य में प्रवर्तन करे उस कालमें उसे शुद्धोपयोगी ही कहते हैं। यद्यपि वहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं तथापि उनकी यहाँ विवक्षा नहीं है, किन्तु अपने बुद्धिगोचर रागादि को छोड़ा इस अपेक्षा से उसे शुद्धोपयोगी[2] कहा है। ××× निचली दशा में द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है। ×××

(३) और किसी स्थान पर मुख्यता की अपेक्षा से व्याख्यान हो उसे सर्वप्रकाररूप नहीं जानना चाहिये। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान वाले जीवों को पाप जीव कहा है तथा असंयतादि गुणस्थान वाले जीवों को पुण्य-जीव कहा है, सो यह मुख्यता से कहा गया है, किन्तु तारतम्यता से तो दोनों में यथासंभव पाप-पुण्य होते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना।

बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीका में तथा प्रवचन-सारादि शास्त्रों में गुणस्थानों का संक्षेप से तीन विभागरूप

---

१ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३७६।

२ मोक्षमार्ग प्रकाशक, अधिकार ८, पृ० ४२०।

३ मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार ८ पृ० ४०७।

अशुभोपयोग, शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग का जो कथन जहां-जहां है वहाँ-वहाँ उस मुख्यता की अपेक्षा से है ऐसा समझना, सर्वप्रकार से नहीं समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

भावसंवर के भेद

वदसमिदिगुत्तिओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं [2]बहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ ३५ ॥

व्रतसमितिगुप्तयः धर्मानुप्रेक्षाः परीषहजयः च ।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्याः भावसंवरविशेषाः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थः—(व्रतसमितिगुप्तय) व्रत, समिति और गुप्ति (धर्मानुप्रेक्षा) धर्म अनुप्रेक्षा (परीषहजय) परीषहजय (च) और (चारित्र बहुभेदं) अनेक भेदवाला चारित्र यह (भावसंवर विशेषाः) भावसंवर के भेद (ज्ञातव्याः) जानना चाहिये।

भावार्थः—१. व्रत समिति गुप्ति—यह गाथा संवर अधिकार की है, इसलिये यहां निश्चयव्रत, निश्चयसमिति तथा निश्चयगुप्ति समझना चाहिये। व्यवहारव्रत-समिति-गुप्ति ४५ वीं गाथा में कही है, जो कि आस्रव है।

२. निश्चयव्रत—निश्चय[3] से विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वभाव

---

१ 'वद' के स्थान पर 'तव' भी पाठ है। तव=तप।

२ 'बहुभेया' भी पाठ है जिसका अर्थ अनेक प्रकार के भावसंवर के भेद समझना चाहिये। तब ऐसा अन्वय होता है कि 'बहुभेदा: भावसंवर विशेषाः ज्ञातव्या।'

३. बृहद् द्रव्य-संग्रह गाथा ३५ की टीका।

निज आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखामृत के आस्वादरूपी बल से समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्प से निवृत्ति का होना सो व्रत है।

३ निश्चय समिति—अभेद-[1]अनुपचार रत्नत्रयरूपी मार्ग में परमधर्मी ऐसे अपने आत्मा के प्रति सम्यक् 'इति' अर्थात् परिणति सो समिति है। अथवा निज परमतत्त्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक परम धर्मों की संहति (मिलन-संगठन) सो समिति है।

४. निश्चय गुप्ति—निश्चय से सहज शुद्धात्मभावना-लक्षण गूढ़स्थान में संसारकारण रागादि के भय से स्वात्मा में गोपन (प्रच्छादन, झपन प्रवेशन, रक्षण) सो गुप्ति है।

५. निश्चय धर्म:—(१) निश्चय[2] से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे ऐसी विशुद्ध ज्ञान-दर्शनलक्षण निज-शुद्धात्म की भावना सो धर्म है। (२) पदार्थ के इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं। जब [3]तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट न भासे तब स्वयं क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते और तभी सच्चा धर्म होता है। निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है।

६. निश्चय अनुप्रेक्षा—[3]जैसा अपना तथा शरीरादिक का स्वभाव है उसे वैसा जानकर भ्रम छोड़कर उन्हें भला मानकर राग न करना और बुरा समझकर द्वेष न करना—ऐसी सच्ची उदासीनता के लिए अनित्यादि का यथार्थ चिन्तवन करना सो सच्ची अनुप्रेक्षा है।

---

१ नियमसार गाथा ६१, पृष्ठ ११९।

२ बृहद् द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ९०।

३ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३६-३७ दिल्ली से प्रकाशित।

७. निश्चय परिषहजय—दुःख के कारण मिलने पर दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने पर सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे सो वही सच्चा परीषहजय है।

८. निश्चय चारित्र—निश्चय से तो निष्कषाय भाव है वही सच्चा चारित्र है। जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है वह आत्मा अपने मे ही—ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर चरित होने से (विचरण-आचरण करता होने से) चारित्र[1] है और चारित्ररूप वर्तन करता हुआ निजको-ज्ञानमात्र को चेतित होने से स्वयं ही ज्ञान-चेतना है। मोक्ष क्षोभरहित चारित्र ही यथार्थ धर्म है।

९. पापसंवर सम्बन्धी स्पष्टता—

प्रश्न—बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीका में कहा है कि—"व्रत से प्रारम्भ करके चारित्र तक सबकी जो व्याख्या की है उसमे निश्चयरत्नत्रय साधक व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभोपयोग के प्रतिपादक जो वाक्य हैं उन्हें पापास्रव के संवर का कारण समझना चाहिये।" इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—(१) श्री पंचास्तिकाय गाथा १४१ में पापास्रव के संवर का स्वरूप दिया है, वहा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—"भलीभाति मार्ग मे रहकर इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का जितना निग्रह करता है उतना ही पापास्रव का छिद्र बन्द होता है।"

(२) उसकी टीका मे कहा है कि—"मार्ग यथार्थ में संवर है, उसके निमित्त से (उसके लिए) इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का जितने अंश में अथवा जितने समय तक निग्रह

---

१ समयसार गाथा ३८६, पृष्ठ ५४९-५०, प्रवचनसार गाथा ७।

किया जाता है उतने समय तक पापास्रव द्वार बन्द होता है।"

(३) शुभोपयोग को सवर नहीं कहा, अपितु मार्ग यथार्थ मे संवर है—ऐसी स्पष्टता की है, और फिर वहाँ "जितने अंश में"—"उतने अंश मे"—इन शब्दों का प्रयोग किया है, वे बतलाते हैं कि साधक जीवों के चारित्र की एक पर्याय में दो अंश होते हैं। १-वीतरागी अंश, २-राग अंश। उसमे जो वीतरागी अंश अर्थात् शुद्ध परिणति कषाय के अभावरूप है वह संवर है और जो राग अंश है वह शुभोपयोग है, जो कि बंध का ही कारण है। उसे संवर मानना निरा भ्रम है।

(४) यह शुभोपयोग भूमिका के अनुसार वीतरागी शुद्ध परिणति का सहचर है, इसलिये उसे संवर का (उपादानकारण नहीं किन्तु) मात्र निमित्तकारण कहा जाता है।

(५) वह निमित्तकारण है—ऐसा ज्ञान कराने का प्रयोजन यह है कि—ऐसा शुभोपयोग साधक जीव के तन्मयबुद्धि से—एकत्वबुद्धि से नहीं होता, किन्तु निषेधबुद्धि से (हेयबुद्धि से, वियोगबुद्धि से) होता है, वह उसका उल्लंघन करना चाहता है और उसका पुरुषार्थ चालू है, वह क्रमशः शुद्धता का पुरुषार्थ बढ़ाते हुये शुभभाव का अभाव करेगा। इसलिये व्यवहाररत्नत्रय-रूप शुभोपयोग परमार्थ से बाधक होने पर भी सहचर[1] होने के कारण व्यवहारनय से निश्चयनय का साधक अर्थात् भिन्न साधक साध्य (निमित्तरूप से) कहा जाता है॥ ३५॥

---

१ सर्वज्ञ वीतराग कथित आगम मे कहा है वैसा ही व्यवहार-निमित्त भूमिकानुसार होने का नियम है इसलिये उसे सहचर कहा है, किन्तु श्वेताम्बर-आदि मत कथित चाहे जैसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, लिंग-वेश हों, उन्हें निमित्त-सहचर नहीं माना है।

निर्जरा का लक्षण और भेद

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥

यथाकालं तपसा च भुक्तरसं कर्मपुद्गलं येन ।
भावेन सडति ज्ञेया तत्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा ॥३६॥

अन्वयार्थः—(यथाकाल) समय आनेसे (च) और (तपसा) तप द्वारा (भुक्तरसं) जिनका फल भोगा जा चुका है ऐसे (कर्म पुद्गलं) कर्मरूप पुद्गल (येन) जिस (भावेन) भावसे (सडति) खिर जाते हैं उसे भावनिर्जरा (ज्ञेया) जानना चाहिये (च) और (तत्सडनं) कर्मों का खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है (इति) इस प्रकार (निर्जरा) निर्जरा (द्विविधा) दो प्रकार से है ।

भावार्थः—(१) निर्जरा—अखंडानन्द शुद्धात्मस्वभाव के बल द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था की आंशिक हानि करना सो भावनिर्जरा है, तथा उस प्रसंग पर द्रव्यकर्मों का स्वयं स्वत अंशत खिर जाना सो द्रव्य निर्जरा है । (उसमें जीव का शुद्धभाव निमित्तमात्र है ।)

निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल—आत्मा मे एकाग्र होकर शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की इच्छाओं को रोकने से जो निजगुण की शुद्धि का प्रतपन होता है सो तप है, इस सम्यक् तप से निर्जरा होती है । ऐसा तप सुखदायक है, किन्तु अज्ञानी उसे क्लेशदायक मानता है और आत्मा की ज्ञानादि अनन्त-शक्तियों को भूलकर, पंचेन्द्रियों के विषयों में सुख मानकर उनमें प्रीति करता है । यह निर्जरातत्त्व संबंधी भूल है । (ज्ञानी के

तपकाल में परिणामों की शुद्धतानुसार निर्जरा कही है, मात्र बाह्य तप से निर्जरा मानना भूल है।)

(३) सविपाक निर्जरा:—द्रव्यकर्मों के उदय मे आने पर भी जितने अंश में जीव उनसे पीछे रहता है अर्थात् उनमें युक्त नहीं होता उतने अंश मे सम्यग्दृष्टि के संवर पूर्वक निर्जरा होती है (अज्ञानियों की सविपाक निर्जरा यहा नहीं लेना चाहिये।) सम्यग्दृष्टि के सविकल्प दशा मे जो शुद्ध परिणति होती है उससे निर्जरा होती है। वह अशुभ कर्मों का नाश करती है, शुभ कर्मों का नहीं, अपितु संसार स्थिति को घटाती है×। निर्विकल्प दशा में जो निर्जरा होती है वह शुभ और अशुभ दोनों कर्मो का विनाश करती है।

(४) अविपाक निर्जरा:—आत्मा की शुद्ध परिणति होने पर सत्ता मे रहने वाले कर्मों की स्थिति कम होती है। और वे जब आत्मा से पृथक् हो जाते हैं तब उनकी अविपाक निर्जरा हुई कही जाती है। द्रव्यकर्म की अपेक्षा से वह अविपाक निर्जरा है और जीवभाव की अपेक्षा से वह सकाम निर्जरा है।

(५) भावनिर्जरा-द्रव्य निर्जरा—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, भाव-मुनि, उपशमक, क्षपकादि जीवों के परिणाम उत्तरोत्तर अनंतगुनी* विशेष शुद्धि वाले होते हैं, वह भाव निर्जरा है और उस समय जो असंख्यातगुनी क्रमशः वृद्धिगत अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यात-गुनी निर्जरा होती है वह द्रव्यनिर्जरा है॥ ३६॥

× बृहद् द्रव्यसंग्रह (रायचन्द शास्त्रमाला) गाथा ३६, टीका पृ० १३७।

* पं० हीरालालजी कृत द्रव्यसंग्रह गाथा ३६ टीका।

मोक्ष के भेद और लक्षण

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ॥३७॥
सर्वस्य कर्मणः यः क्षयहेतुः आत्मनः हि परिणामः ।
ज्ञेयः सः भावमोक्षः द्रव्यविमोक्षः च कर्म्मपृथग्भावः । ३७॥

अन्वयार्थः—(आत्मनः) आत्मा के (य) जो (परिणामः) परिणाम (सर्वस्य कर्मणः) समस्त कर्मों के (क्षयहेतु) क्षय होने में कारण हैं (स हि) वही (भावमोक्ष.) भावमोक्ष (ज्ञेय) जानना चाहिये । (च) और (कर्म्मपृथग्भाव.) आत्मा से द्रव्य कर्मो का पृथक् होना सो (द्रव्यविमोक्ष) द्रव्य मोक्ष है ।

भावार्थः—१. मोक्ष—समस्त कर्मों के क्षय के कारणभूत तथा निश्चयरत्नत्रय स्वरूप जो परम विशुद्ध परिणाम हैं सो भाव-मोक्ष है और अपनी योग्यता से स्वयं स्वत. द्रव्यकर्मो का आत्म-प्रदेशों से अत्यन्त अभाव होना सो द्रव्यमोक्ष है । जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाय ऐसी दशा को मोक्षतत्त्व कहते हैं । गाथा २–१४–५१ मे सिद्ध परमेष्ठी के संबंध मे जो कुछ कहा है वह यहाँ भी लागू होता है ।

२. मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूलः—(१) आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध दशा का प्रगट होना सो मोक्ष है । उसमें आकुलता का अभाव है—पूर्ण स्वाधीन निराकुल सुख है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा न मानकर शरीर में—मौजशौक मे ही सुख मानता है । मोक्ष मे देह, इन्द्रिय, खानपान, मित्रादि कुछ भी नहीं होता, इसलिये अज्ञानी

* पं० हीरालालजी कृत द्रव्यसंग्रह गाथा ३६, टीका ।

अतीन्द्रिय मोक्षसुख को नहीं मानता यह उसकी मोक्षतत्त्व संबंधी भूल है। (२) अज्ञानी सिद्धसुख तथा इन्द्रियसुख की एक ही जाति मानता है। जिस धर्म साधन का फल स्वर्ग मानता है उसी धर्म साधन का फल वह मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद प्राप्त करे तथा कोई मोक्षपद प्राप्त करे तो वहां उन दोनों को एक जातिरूप धर्मका फल हुआ मानता है। और वह ऐसा मानता है कि जिसे अल्प साधन होता है वह इन्द्रादि-पद प्राप्त करता है, तथा जिसके सम्पूर्ण साधन होता है वह मोक्ष प्राप्त करता है। जो कारण की जाति को एक जानता है उसे कार्य की एक जातिका श्रद्धान अवश्य होता है, क्योंकि कारण—विशेषता होने से ही कार्य-विशेषता होती है, इसलिये ऐसा निश्चय होता है कि उसके अभिप्राय में इन्द्रादि सुख और सिद्ध सुखकी जाति मे एक जाति का श्रद्धान है। इन्द्रादिको जो सुख है वह तो कषाय-भावों से आकुलतारूप है इसलिये वह परमार्थ से दुःखी ही है, इसलिये उसकी और मोक्षसुखकी एक जाति नहीं है। और स्वर्ग-सुख का कारण तो प्रशस्त राग है जब कि मोक्षसुख का कारण वीतरागभाव है, इसलिये कारण मे भी भेद है। अब ऐसा भाव अज्ञानी को भासित नहीं होता इसलिये मोक्षतत्त्व का भी उसे सच्चा× श्रद्धान नहीं है। (३) जिसकी एक तत्त्व की श्रद्धा में भूल हो उसकी भूल समस्त तत्त्वों की श्रद्धा मे होती है—ऐसा समझना चाहिये।

३. मुक्त आत्मा के सुख की प्रसिद्धि के लिये शरीर सुख का साधन होने का खंडनः—वास्तव मे इस आत्मा को सशरीर

× मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३४३, सिद्धदशा में दुःख के अभाव की सिद्धि के लिये देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ १०४।

अवस्था मे भी शरीर सुख का साधन होता हुआ ज्ञानी न तो देखते हैं और न अनुभव ही करते हैं। सशरीर अवस्था में भी आत्मा ही सुखरूप परिणति मे परिणमित होता है। इन्द्रियसुख का भी वास्तविक कारण आत्मा का ही अशुद्ध स्वभाव है। उसमें देह कारण नहीं है। यद्यपि अज्ञानी विषय सुख के साधन हैं—ऐसी बुद्धि के द्वारा विषयों का वृथा अध्यास (आश्रय) करते हैं, तथापि संसार मे या मुक्ति मे स्वयमेव परिणमित होनेवाले इस आत्मा को विषय क्या करते हैं ? अकिंचित्कर हैं—कुछ भी नहीं करते। अज्ञानी विषयों को सुख का कारण मानकर वृथा ही उनका अवलम्बन[1] करते हैं।

४. केवली और सिद्ध भगवन्तों का सुख वह सुख[2] अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त (अविनाशी) और अविच्छिन्न (अटूट) है। यह सुख निज आत्मस्वरूप उपादान कारण से सिद्ध है।

५. मोक्ष अवस्था—सम्पूर्णत. भावकर्म-द्रव्यकर्मरूप मल-कलंक से रहित तथा शरीर रहित जो आत्मा है उसे आत्यंतिक स्वाभाविक, अचिंत्य, अद्भुत तथा अनुपम सकल विमल केवल-ज्ञानादि अनन्त गुणों के स्थानरूप जो विशिष्ट अवस्था है वह मोक्ष[3] है।

---

१ प्रवचनसार गाथा ६५ से ६८ तथा टीका बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३७ टीका।

२ प्रवचनसार गाथा १३ टीका। बृ० द्रव्यसंग्रह पृ० १३९। उपादान से सिद्ध कहते ही ऐसा समझना चाहिये कि—कर्म के अभाव के कारण वह सुख नहीं हुआ है—ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि कर्म परद्रव्य हैं, वे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं हैं।

३ बृहद् द्रव्यसंग्रह पृ० १३९।

६. भावमोक्ष यह अवस्था चार घातिया कर्मों का नाश होने पर तेरहवें गुणस्थान में प्रगट[1] होती है।

७. द्रव्यमोक्ष—सिद्ध होने पर शेष समस्त कर्मों का अभाव होता है।

८. अभव्यत्व[2] गुण—स्वशुद्धात्माभिमुख परिणतिरूप (कर्म का घात करने की) बुद्धि किसी काल न करे वह अभव्यत्व गुण का लक्षण समझना चाहिये।

९. कर्मोदय निरन्तर होने से शुद्धात्म भावना नहीं हो सकती —ऐसी शंका सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

प्रश्न—संसारी के निरन्तर कर्मबन्ध और उदय भी होता है, इसलिये जीव को शुद्धात्मभावना का प्रसंग दिखाई नहीं देता, तब फिर उसे मोक्ष तो कहां से होगा?

उत्तर:—भगवानका उपदेश संज्ञी पर्याप्त भव्यजीवों के लिये ही है क्योंकि वे धर्म करने की पात्रता रखते हैं। चारों गति के संज्ञी पर्याप्त जीव अनादि से मिथ्यादृष्टि होने पर भी भगवान के उपदेशानुसार यथार्थ पुरुषार्थ करके निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पांचवां गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं। इस काल में इस क्षेत्र में जन्म लेनेवाले पुरुष सातवें गुणस्थान तक पहुँच सकते हैं और स्त्रियां त्रिकाल पांचवें गुणस्थान तक पहुँच सकती हैं। उसका उपाय निम्नानुसार है—

---

१ पंचास्तिकाय गाथा १५१-१५३।

२ भव्यत्व और अभव्यत्व—यह जीव के अनुजीवी गुण हैं। देखो पं० गोपालदास कृत जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, आप्त मीमांसा, श्लोक ९९-१०० टीका वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ३८, टीका।

(१) कर्म अचेतन है इसलिये ज्ञान मे और कर्म में व्यतिरेकपन है, तथापि आत्मा और कर्म का विवेक न करने वाले शुद्धात्मभावना नहीं कर सकते, परन्तु आत्मा और कर्म के विवेकपने से अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रबल कर्म का जीव को संयोग होने पर भी शुद्धनय अनुसार बोध होने मात्र से अपने एक ज्ञायक भाव का अनुभव कर सकता है। भगवान कुन्द-कुन्दाचार्य देव श्री समयसार गाथा ११ में कहते हैं कि व्यवहार-नय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है। कर्म का स्वभाव ही ऐसा है कि जीव जब इस गाथा में कहे अनुसार पुरुषार्थ करता है तब उसकी अवस्था उपशमादिरूप हुए बिना नहीं रहती।

(२) समयसार कलश १२ में कहा है कि—जगत के प्राणियो! इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो, क्योंकि तीनों काल के कर्मबन्ध को अपने आत्मा से शीघ्र भिन्न करके मिथ्यात्व का अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर (नष्ट करके) अंतरंग मे अपने आत्मा का अनुभव किया जा सकता है।

(३) भूल अनादिकालीन कर्मबन्ध के कारण नहीं है किन्तु अनादि बन्ध पर्याय के वशीभूत होकर पर के साथ एकत्व का निश्चय करने से ही जीव मूढ़—अज्ञानी है, किन्तु भेदविज्ञान मे प्रवीणता करने से ही आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अजीव अचेतन कर्म कहीं जीव को आत्मज्ञान करने से रोकते नहीं हैं, वे तो जड हैं। स्वयं कौन है और जीव कौन है—इसका तो उसे कोई पता ही नहीं है इसलिये कर्म का दोष निकालना अन्याय है। यदि कर्मों का दोष होता तो भगवान जीवों को उपदेश न देते, किन्तु जीवो का ही दोष है इसलिये भगवान ने

जीवों को दोष बतलाकर उन दोषों को दूर करने के लिये निर्मल भेदज्ञान द्वारा पराश्रय छोड़कर निज का आश्रय करने का उपदेश जीव को दिया है।

(४) आत्मा और कर्म के एकत्व का अध्यास जिसका मूल है ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान अविरति, योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे रागद्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण हैं, इसलिये संसार है परन्तु जीव जब आत्मा और कर्म के भेद-विज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है तब आस्रवभावों के कारणों का अभाव होता है। समयसार गाथा १९०-१९१-१९२ तथा टीका में, तथा पंचास्तिकाय गाथा १५०-१५१ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य तथा श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि जीव अनादि से कर्म के वश हुआ है, किन्तु यदि वह आत्माभिमुख (स्वसन्मुख) हो तो दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी की कर्मप्रकृति उपशमादि अवस्था को अवश्य प्राप्त होगी ही।

(५) श्री समयसार गाथा ३१४, ३१५ के भावार्थ में कहा है कि जब तक आत्मा अपने और पर के स्वलक्षण को नहीं जानता तब तक वह भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्म प्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित* होता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि अज्ञानी असंयमी होकर, कर्ता होकर कर्म का बंध करता है और जब आत्मा को भेदज्ञान होता है तब वह कर्ता नहीं होता इसलिये कर्म का बंध नहीं करता, ज्ञाता दृष्टारूप से परिणमित होता है।

(६) श्री समयसार गाथा ३१६ के भावार्थ में कहा है कि—

---

* कर्मोदय के वश परिणमित होना कहो या कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित होना कहो—वह दोनों एकार्थवाची हैं।

अज्ञानी को शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है, इसलिये जो कर्म उदय में आये उसी को अपने रूप जानकर भोगता है, किन्तु ज्ञानी को तो शुद्ध आत्मा का अनुभव हो गया है इसलिये वह प्रकृति के उदय को अपना स्वभाव न जानते हुए उसका ज्ञाता ही रहता है—भोक्ता नहीं होता।

(७) श्री समयसार गाथा ७४ टीका मे बतलाया है कि— आस्रव और जीव का भेदज्ञान करता है तब (उसी कारण से) कर्मविपाक शिथिल हो जाता है, और जिसमे कर्मविपाक शिथिल हो गया है ऐसा आत्मा, सामूहिक बादलों की रचना जिसमें खंडित हो गई है ऐसे दिशा के विस्तार की भांति, अमर्याद जिसका विस्तार है ऐसा सहजरूप से विकास प्राप्त करने वाली चित्‌शक्ति द्वारा ज्यों-ज्यों विज्ञानघन होता जाता है त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है।

(८) प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करने के योग्य ज्ञानका विकास सभी पंचेन्द्रिय जीवों के हुआ है। तत्त्वविचारादि करने योग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम उनके हुआ है, इसीलिये वहां उपयोग को लगाने का उद्यम करने के लिये भगवान का उपदेश है। असंज्ञी जीवों के वैसा क्षयोपशम नहीं है इसलिये उन्हें उपदेश किस लिये दें? संज्ञी पर्याप्त जीवों के निर्णय करने की शक्ति प्रगट हुई है। जहा उपयोग लगाये उसी का निर्णय हो सकता है और उपयोग न लगाता है, यह तो उसका अपना ही दोष है, वहां कर्म का कोई प्रयोजन नहीं है।

(९) सम्यक्त्व का घातक दर्शनमोह कर्म है और चारित्र का घातक चारित्रमोह कर्म है, इसलिए उसका अभाव हुए बिना मोक्ष का उपचार कैसे हो सकता है? इस शंका का

समाधान यह है कि यदि सत्य पुरुषार्थपूर्वक तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाया जाय तो स्वयं ही दर्शनमोह और चारित्रमोह का अभाव हो जाता है। जब जीव सत्य पुरुषार्थ करता है तब मोहकर्म की स्थिति और अनुभाग कम होता है और क्रमशः पुरुषार्थ बढ़ते-बढ़ते उन कर्मों का अभाव हो जाता है। इसलिए तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना चाहिये और उपदेश भी यही पुरुषार्थ करने के लिये दिया जाता है। इस पुरुषार्थ से मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० १११, २८९ ४५६-४५७)

नोट—बृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा ३८ की टीका में कहा है कि जब कर्मों का स्थिति-अनुभागबन्ध हीयमान किया जाता है तब धर्म का पुरुषार्थ हो सकता है, किन्तु वहा यह नहीं बतलाया कि उसके लिये क्या उपाय करना चाहिये, इसलिये यहां विस्तार से यह उपाय बताया गया है ॥ ३७ ॥

पुण्य और पाप का लक्षण

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पाव च ॥ ३८ ॥
शुभाशुभभावयुक्ताः पुण्यं पाप भवन्ति खलु जीवाः ।
सातं शुभायुः नाम गोत्रं पुण्यं पराणि पापं च ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थः—(जीवाः) जीव (शुभाशुभभावयुक्ताः) शुभ और अशुभ भावों में युक्त होकर (पुण्यं) पुण्यरूप और (पापं) पापरूप (भवन्ति) होते हैं (सातं) साता-वेदनीयकर्म (शुभायुः) शुभ आयु (नाम) शुभ नाम (गोत्रं) शुभ गोत्र-उच्चगोत्र, यह सब

(पुण्यं) पुण्य-प्रकृतियां हैं (च) और (पराणि) असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र तथा चार घातिया कर्म (पापं) पाप-प्रकृतियां हैं।

(ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय-यह चार घातिया कर्म पापरूप हैं और वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र यह पुण्य और पाप दोनों रूप हैं।

भावार्थः—१. पुण्य-पाप —(१) दया, दान भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि के शुभभाव (मंद कषायरूप) जीव के होते है वे अरूपी अशुद्धभाव हैं—भावपुण्य हैं। उस समय सातावेदनीय, शुभ नाम आदि कर्मयोग्य परमाणुओं का समूह स्वयं, स्वतः एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध से जीव के साथ बंधता है, वह द्रव्य-पुण्य है। उसमे जीव का पुण्यरूप अशुद्धभाव निमित्तमात्र है)।

(२) मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि के अशुभ-भाव जीव के होते हैं, वे अरूपी अशुद्ध भाव हैं-भावपाप हैं। उस समय असातावेदनीय अशुभ नाम आदि कर्मयोग्य परमाणुओं का समूह स्वय-स्वत: एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध से जीव के साथ बँधता है वह द्रव्यपाप है (उसमे जीव का भावरूप अशुद्ध-भाव निमित्तमात्र है)।

२ पुण्य-पापभाव के द्वारा घातिकर्मो का बन्ध निरन्तर होता है—शुभाशुभ भावों द्वारा पुण्य-पाप के विशेष तो अघाति कर्मो मे होते हैं, किन्तु अघाति कर्म कहीं आत्मगुण के घातक नहीं हैं। फिर शुभाशुभ कर्मो मे घातिकर्मो का बन्ध तो निरन्तर होता है। जो सर्व पापरूप[1] ही है और वही आत्मगुण का

१ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३४।

घातक है, इसलिये जो अशुद्ध (शुभाशुभ) भावों के द्वारा कर्मबंध होता है उसे भला-बुरा मानना सो यही मिथ्या श्रद्धान है, और ऐसे श्रद्धान से पुण्य-पाप तत्त्वों की भी सत्य श्रद्धा नहीं होती। (यहा कर्म को घातक कहा है, इसका मतलब ऐसा समझना चाहिये कि यह जीव जब अपने भाव का घातक होता है तब द्रव्यकर्म पर निमित्त के रूपमे घातक का आरोप होता है)।

३. वास्तविक स्वरूप—परमार्थत—(वास्तव मे) पुण्य-पाप भाव आत्मा को अहितकर है। सम्यग्दृष्टि के पुण्यभाव से (शुभोपयोग से) आंशिक संवर-निर्जरा होती है यह मान्यता मिथ्या है।

४. श्रावक-मुनि की शुभक्रिया सम्बन्धी स्पष्टता—किसी को ऐसी भ्रान्ति होती है कि-मिथ्यादृष्टि को जो यतिपने की क्रिया है सो तो बंध का कारण है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के जो यतिपने की शुभ क्रिया है सो मोक्ष का कारण है, क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूप क्रिया—दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षय करते है। ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करते हैं। इसका समाधान यह है कि—जितनी शुभ अशुभ क्रिया, बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अंतर्जल्परूप विकल्प या द्रव्य का विचार अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्म बंध के कारण हैं। ऐसी क्रिया का यही स्वभाव है। उसमे सम्यग्-दृष्टि या मिथ्यादृष्टि का कोई भेद नहीं होता। ऐसी क्रिया से दोनों के बंध होता है। केवल शुद्ध स्वरूप[1] परिणमन से ही मोक्ष होता है।

---

१. समयसार कलश टीका सूरत से प्रकाशित, पृष्ठ ११२-११३ कलश ११०। पुण्य-पाप अधिकार कलश ११।

यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धज्ञान (वीतरागी अश) भी है और क्रियारूप परिणाम भी है। वहाँ क्रियारूप परिणाम से अकेला बंध होता है, कर्म का क्षय एक अंश-मात्र भी नहीं होता,—ऐसा वस्तुस्वरूप है। त्रिकाल में शुद्धस्वरूप अनुभवज्ञान के द्वारा कर्म क्षय होता है, एक अंशमात्र भी बंध नहीं होता। वस्तु का ही ऐसा स्वरूप है। क्रियारूप परिणाम से संवर निर्जरा अंशमात्र भी नहीं होते अपितु उनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध[१] होता है।

५. पुण्य-पाप मे व्यवहारनय से विशेष होने पर भी निश्चय से (भेद) नहीं है—शुभोपयोग साध्य जो इन्द्रियसुख है वह निश्चय से (वास्तव मे) दुःख है। व्यवहारनय से विशेष होने पर भी निश्चयनय से यह प्रसिद्ध है कि शुद्धोपयोग से विलक्षण ऐसे शुभाशुभोपयोग में किसी प्रकार से भी भिन्नता नहीं हो सकती[२]। शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भांति और सुख-दुःख के द्वैत की भाति परमार्थ से पुण्य-पाप का द्वैत नहीं टिकता, क्योंकि दोनों में अनात्मधर्मता समान है। इस प्रकार पुण्य-पाप में कोई अंतर[२] नहीं है—ऐसा जो नहीं मानता वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है, दुःख का ही अनुभव करता है ॥३८॥

---

१ प्रवचनसार रायचंद्र शास्त्रमाला गाथा ७७, पृष्ठ ९२ श्री जयसेन जी।
२ प्रवचनसार गाथा ७७ टीका।

परिशिष्ट

आस्रव-बन्ध संवर-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य-पाप सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा के लिये नय (दृष्टिकोण) द्वारा स्पष्टता—१ निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों को उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय–व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधता सहित है। श्री समयसार (गाथा ११) में भी ऐसा कहा है कि–"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।"

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है, सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता, किन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है, और निश्चय शुद्धनय है—भूतार्थ है, क्योंकि वह जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही निरूपण करता है। इस प्रकार दोनों का स्वरूप विरुद्धता सहित है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अ. ७, पृष्ठ ३६६)

२. निश्चय निरूपण को सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना चाहिये। व्यवहार निरूपण को असत्यार्थ मान कर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये।

३. (१) निश्चय का निश्चयरूप तथा व्यवहार का व्यवहार-रूप श्रद्धान करना योग्य है (२) निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना चाहिये। तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये।

इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चय का श्रद्धान करना योग्य है।

४. और फिर व्यवहारनय स्वद्रव्य–परद्रव्य को या उसके

भावों[1] को या कारण–कार्यादि को किसी का किसी मे मिलाकर निरूपण करता है इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, अत उसका त्याग करना चाहिये।

५ और फिर निश्चयनय[2] उसी का यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी मे नहीं मिलाता इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। अत उसका श्रद्धान करना चाहिये। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ पृष्ठ ३५९)

६. व्यवहारनय—जिनवाणी में व्यवहारनय का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन[3] जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल संसार[4] ही है। (श्री समयसार गाथा ११ भावार्थ, पृष्ठ २५)

७. व्यवहारनय को—अशुद्धनय[5] भी कहते हैं। अशुद्ध-

---

१. देखो, समयसार गाथा ५६, पृ० १०७ जीव के औपाधिक भावों का अवलम्बन करके प्रवृत्त होता हुआ (वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है।

२ देखो, समयसार गाथा ५६, पृ० १०७ निश्चयनय द्रव्य के आश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलंबन करके वर्तता हुआ दूसरे के भाव को किंचित भी दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है।

३. हस्तावलम्ब = प्रतिपादक, बहिरंग साधक, बहिरंग सहकारी कारण, निमित्त, बाह्य हेतु।

४ ससार = आस्रव, बंध।

५. "अशुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला होने से जिसने भिन्न–भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव बतलाये हैं ऐसा व्यवहारनय।"
(श्री समयसार गाथा १२, टीका पृष्ठ २६)

नय को हेय कहा है, क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है। (श्री समयसार गाथा ६, भावार्थ पृ० १७)

८ व्यवहार धर्म—अभेद रत्नत्रयमय ही मोक्षमार्ग निश्चय से कर्मबन्ध छेदक है। व्यवहार रत्नत्रयमय धर्म वह शुभोपयोग का विकल्प है, पुण्यबन्धकारक[1] है, मोक्षकारक नहीं है। (श्री राजमल जी कृत समयसार कलश १०३, कलश टीका पृष्ठ १०४, पुण्य पाप-एकत्व अधिकार कलश-४)। भावलिंगी मुनीश्वरों को—श्रावकों को व्यवहार धर्मरूप शुभक्रिया भी मोक्षमार्ग[2] नहीं है—बंध का मार्ग है। शुभक्रिया ने रहने से जीव विकल्पी है इसलिये दुःखी है। (श्री समयसार कलश १०४ कलश-टीका पृ० १०५, पं० बनारसीदासजी कृत समयसार नाटक पुण्य-पाप एकत्व अधिकार, कवित्त-८ ।)

९. व्यवहारधर्म[3] ज्ञानी को बन्ध का हेतु अर्थात् बन्ध का मार्ग है। (कलश टीका सूरत से प्रकाशित पृ० १०५) और वह कम्बल में चित्रित नाहर की भांति कथनमात्र नाहर है, उसी प्रकार व्यवहारचारित्र कथनमात्र चारित्र है, किन्तु वह वास्तव में चारित्र नहीं है। वह कर्मक्षपण का कारण नहीं है, बन्ध-कारण है। यहां ऐसी श्रद्धा करायी है कि मोक्षमार्ग मात्र आत्मिक वीतरागभाव है। अति सूक्ष्म किन्तु रागरूप वर्तन बन्ध

---

१ पुण्यबंध के साथ ज्ञानावरणादि चारों घातिकर्म जो कि पापकर्म हैं उनका बन्ध होता है।

२ मोक्षमार्ग नहीं है = संवर-निर्जरा नहीं है, आस्रव-बन्ध है।

३ व्यवहारधर्म = व्यवहारनय से कहा हुआ धर्म।

का कारण है, कर्म की निर्जरा का कारण नहीं है। (राजमल जी कृत समयसार कलश-टीका सूरत पृष्ठ १०९।)

१० व्यवहारधर्म की क्रिया—ज्ञानी को मोक्षपंथ[1] की काटने वाली है, बन्ध की क्रिया है, बाधक है, विचार में निषिद्ध है। (श्री समयसार नाटक पुण्य पाप अधिकार, कवित्त-१२) वह भली है ऐसी भ्रान्ति[2] नहीं करना चाहिये। (कलश-टीका पृष्ठ १११) सम्यग्दृष्टि को वह क्रिया चारित्रमोह के बलात्कार से होती है, ज्ञानावरणादि[3] कर्मबन्ध करती है, संवर-निर्जरा अंशमात्र नहीं करती।

व्यवहारनय—ज्ञाता को ज्ञान के विभाग[4] की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है? (श्री प्रवचनसार गा० ३५)

व्यवहारनय आदरणीय नहीं है, (प्रवचनसार गा० ३४ गा० ९८) क्योंकि उसमें भेद वासना है। (श्री समयसार गा. ११)

११. भावलिंगी मुनि को जो शुभोपयोग वर्तता है वह कषायकण अविनष्ट होने से आस्रव ही है। (प्रवचनसार गा० २४५)। वह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध ऐसे राग के साथ सम्बन्धवाला है (प्रवचनसार गाथा० २५३) वह अग्नि से गर्म हुए घृत समान होने से दाहदुःख उत्पन्न करता है।

(प्रवचनसार गा० ११)।

---

१ मोक्षपंथ = संवर-निर्जरा।

२ भ्रान्ति = असत्य श्रद्धा, उल्टी विपरीत श्रद्धा।

३ ज्ञानावरणादि चारों घातिकर्म पापकर्म हैं।

४ ऐसा भेद भी क्लेश उत्पन्न करता है अर्थात् आस्रव है—बन्ध का कारण है। संवर-निर्जरा का कारण नहीं है।

१२. व्यवहारनय—इस प्रकार इस पद्य द्वारा परम जिन योगीश्वर ने वास्तव में "व्यवहार आलोचना के प्रपंच का उपहास[1] किया है।" (नियमसार श्लोक १५५ के नीचे की टीका, पृ० २१५)

१३. व्यवहारनय—"यहां स्वस्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य? कुछ भी नहीं।" (ऐसा छह बार श्री समयसार गाथा ३५१ से ३६५ की टीका में पृ० ४९२ से ४९६ में कहा है)

१४ सर्व व्यवहार छोड़ने योग्य है। (योगसार गा० ३७ ५५, ८५)।

१५ निश्चयनय—(१) भूतार्थ है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन[2] होता है। (श्री समयसार गाथा ११)

(२) परमार्थ के आश्रय से मुनियों के कर्मों का नाश आगम मे कहा है। (श्री समयसार गाथा १५६ तथा टीका, पृ० २४४)

(३) निश्चयनय के आश्रय से मुनि निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। (श्री समयसार गा० २७२ टीका, पृ० ३९३)

(४) शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष[2] है। (समयसार गाथा ११, भावार्थ पृ० २५)।

(५) शुद्धनय भूतार्थ है—सत्यार्थ है। उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। समयसार गाथा ११ भावार्थ पृ० २५)।

---

१ उपहास=हँसी, व्यंग, तिरस्कार।

२ सम्यग्दर्शन होने से संवर-निर्जरा का प्रारम्भ होता है और शुद्धि बढ़ने से संवर-निर्जरा में वृद्धि होती है, अन्त में मोक्ष होता है।

(६) सकल व्यावहारिक चारित्र से तथा उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष ऐसा शुद्ध निश्चयनयात्मक चारित्र है। (नियमसार-निश्चयप्रतिक्रमण उत्थानिका पृ० १४९) ।

(७) व्यवहार-छह आवश्यक से प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय आवश्यक है । (नियमसार गा० ११ उत्थानिका पृ० ११२)

(८) निश्चयधर्म—(सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र) व्यवहार-धर्म से परमनिरपेक्ष है। (नियमसार गाथा २, पृ० ७, गाथा ९३, पृष्ठ १७७, गाथा १८७, पृ० ३७३ । (श्री समयसार कलश टीका सूरत, पृ० १७) ।

(९) समस्त कर्म के प्रलय[1] का हेतुभूत शुद्धोपयोग है। (नियमसार गा० १२, उत्थानिका पृ० ३१८)

(१०) शुद्धोपयोग द्वारा भेदवासना की प्रगटता का प्रलय[1] होता है, शुद्धोपयोग का विरोधी शुभ-अशुभ उपयोग है । (प्रवचनसार गाथा ९१ टीका ।)

(११) 'पुरुषमेव'—आत्मा ही अभेदनय से शुद्धनय का विषय होने से शुद्धात्मसाधक[2] होने से तथा शुद्ध परिणाम होने से शुद्ध है—ऐसा जानो। (समयसार गाथा १४, जयसेनाचार्य टीका) ।

(१२) शुद्धनय कहो, आत्मा की अनुभूति कहो, आत्मा कहो—एक ही है, भिन्न नहीं है। (समयसार गाथा १४, पृष्ठ ३०)

(१३) निश्चय से मेरा आत्मा ही संवर है। (समयसार गाथा ८७७, नियमसार गाथा १००, पृष्ठ १९२—१९३ पृ० ४२०)

---

१ संवर-निर्जरापूर्वक मोक्ष होता है।

२ शुद्धात्म साधक = संवर-निर्जरा मोक्ष का सच्चा कारण है।

इस प्रकार नवतत्त्वों का सच्चा स्वरूप समझने के लिये निश्चय और व्यवहारनय का यथार्थ ज्ञान करना चाहिये ।

※ परिशिष्ट समाप्त ※

तीसरे अधिकार की भूमिका

१—प्रथम अधिकार में छह द्रव्यों का और पांच अस्तिकायों का वर्णन किया, उसके साथ नयों का स्वरूप भी समझाया। इस प्रकार जीव और अजीव इन दो तत्त्वों की पहिचान करायी। शास्त्रों का प्रयोजन वीतरागता है और वह जीवों को अनन्त दुःखों से छुड़ाने वाली है, इसलिये जिन भावों का श्रद्धान करने से मोक्ष होता है तथा जिनका श्रद्धान किये विना मोक्ष नहीं होता उन आस्रवादि तत्त्वों का स्वरूप द्वितीय अधिकार में कहा है।

२—इस अधिकार में मोक्ष का उपाय समझाया गया है, क्योंकि उपाय किये बिना मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं होती।

३—इस सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि मोक्ष के उपाय कितने हैं? इसका उत्तर यह है कि—"एक होय त्रण काळमां परमारथनो पंथ" मोक्ष का उपाय एक ही है, दो या अधिक नहीं हैं। श्री प्रवचनसार ज्ञान-अधिकार गाथा ८२, ज्ञेय अधिकार गाथा १९९ तथा चरणानुयोग अधिकार गाथा २४२ इन तीनों अधिकारों में स्पष्टरूप से भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ऐसा कहा है और उसका अनुसरण करके इस शास्त्र में भी वैसा ही बतलाया है।

४—गाथा ३७ में मोक्ष का स्वरूप कहा जा चुका है। आत्मा का परिपूर्ण सुख प्रगट होना सो मोक्ष है। उसे कार्य-समयसार अथवा कार्यपरमात्मा भी कहा जाता है। वह आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध दशा है, इसलिये उसका उपाय भी 'शुद्ध' ही हो सकता है। श्री प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथायें जिन्हें 'निर्मल पांच रत्न' कहा जाता है, उनमें से गाथा २७४ में "शुद्ध को ही श्रामण्य कहा है—शुद्ध को दर्शन-ज्ञान कहा है—शुद्ध को निर्वाण होता है, वही (शुद्ध ही) सिद्ध होता है, उसे नमस्कार हो"—ऐसा कहा है। श्री परमात्मप्रकाश गाथा ६७, अध्याय २ मे भी ऐसा ही कहा है। इसलिये शुद्ध ही मोक्ष का उपाय—मोक्ष का पथ—मोक्ष का मार्ग है, ऐसा निश्चय करना चाहिये।

५—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७, पृष्ठ ३६५ में भी कहा है कि—"अब मोक्षमार्ग कहीं दो नहीं हैं किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहां सच्चे मोक्षमार्ग को 'मोक्ष-मार्ग' निरूपण किया है वह निश्चयमोक्षमार्ग है. तथा जहां जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त तथा सहचारी है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है अर्थात् सच्चा निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार।"

६—एक ही मोक्षमार्ग होने पर भी उसका निरूपण दो प्रकार से होने का कारण यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जो चारित्र है यह सच्चा और एक ही मोक्षमार्ग है। वहां चारित्र की पर्याय अंशत वीतरागरूप 'शुद्ध' और अंशतः सरागरूप 'शुभ' इन दोनों अंशों का ज्ञान न कराया जाय तो चारित्र की उस पर्याय का सच्चा ज्ञान होगा ही नहीं, इसलिये 'प्रमाणज्ञान' करने के लिये दोनों अंशों का ज्ञान अवश्य होना ही चाहिये। फिर

प्रत्येक कार्य के लिये उपादान और निमित्त दोनों कारण भी जानना चाहिये। यदि दो मे से एक भी कारण में भूल हो तो दोनों कारणों में भूल होगी ही, इसलिये दोनों अंशों का यथार्थ निर्णय आवश्यक है।

७—इस नियम का अनुसरण करके इस शास्त्र में भी सच्चा मोक्षमार्ग एक ही कहा है और वह निश्चयमोक्षमार्ग है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से किया है। वह 'शुद्ध' (वीतरागी अंश) और शुभ (सरागी अंश) बतलाने के लिये किया है।

८—मुनिराज की मुख्यता से यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग कहा है, इसलिये निचले गुणस्थानों में निश्चय मोक्षमार्ग नहीं होता ऐसा नहीं समझना चाहिये। निचले पांचवें-छट्ठे गुणस्थानों मे 'असमग्र रत्नत्रय' होता है—ऐसा पुरुषार्थसिद्धि उपाय गाथा २११, नियमसार गाथा १३४, श्री समयसार गाथा ४१० ४११-४१४ तथा चारित्र पाहुड़ गाथा २१ मे कहा है। श्री वृ० द्रव्यसंग्रह टीका में गाथा ४१ पृष्ठ १५८ मे कहा है कि—"बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका इस चतुर्विध संघ में गाय को बछड़े मे प्रीति होती है उस समान × × ×" उसी पृष्ठ पर स्थितिकरण की व्याख्या करते हुये कहा है कि—"भेदाभेद रत्नत्रय के धारक मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका—इन चार का संघ है। × × ×

९—इस सम्बन्ध मे विशेष आधार निम्न प्रकार हैं—

(१) श्री प्रवचनसार, चरणानुयोग अधिकार गा० ४८, रायचन्द शास्त्रमाला जयसेनाचार्य टीका पृष्ठ ३४२—'श्रावकों के प्रचुरता से शुभोपयोग होता है इसलिये यद्यपि वे किसी-किसी काल मे शुद्ध उपयोग भावना करते हैं तथापि शुभोपयोगी कहे जाते

है।' (भावना = एकाग्रता)

(१) श्री प्रवचनसार गा० ११ जयसेनाचार्य सं० टीका पृ० १३–'रत्नत्रयात्मक धर्म सागर-अनगार के होता है।'

(३) भावपाहुड़ गाथा ६६ मे कहा है कि—'श्रावकत्व और मुनित्व के कारणभूत भाव ही है।'

(४) मोक्षपाहुड गाथा १०६ हिन्दी टीका पाटनी ग्रंथमाला, पृष्ठ ३६० मे कहा है कि—"इस प्रकार सर्व कर्मो के अभावरूप मोक्ष होता है, उसका कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहा जाता है, उसकी प्राप्ति चौथे गुणस्थान मे सम्यक्त्व प्रगट होने पर एकदेश कही है।"

(५) नियमसार गाथा १४९ पृ० ३००–३०१ मे कहा है कि—अतरात्मा के निश्चय आवश्यक होता है। टीका मे कहा है कि असंयतसम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है अर्थात् उसके निश्चय-व्यवहारनय से आवश्यक होते हैं।

(६) श्री योगीन्द्रदेव कृत योगसार गाथा ६५ में कहा है कि—"श्रावक हो या मुनि हो, जो भी निज आत्मा मे वास करता है वह शीघ्र सिद्धिसुख को प्राप्त होता है,—ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।"

(७) राजमलजी कृत सूरत से प्र० श्री समयसार कलश-टीका में जीव-अधिकार में कलश ३१ की टीका पृ० ४४ मे निम्नानुसार कहा है—"और फिर कैसा है आत्मा? दर्शनज्ञान-वृत्तै कृतपरिणति—दर्शन अर्थात् श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, ज्ञान अर्थात् ज्ञातृत्व, चारित्र अर्थात् शुद्धपरिणति ऐसे जो रत्नत्रय उनका कृत अर्थात क्रिया है, परिणति अर्थात् परिणमन, जो ऐसा है।"

भावार्थ—इस प्रकार "मिथ्यात्वपरिणति का त्यागी होने पर शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से साक्षात् रत्नत्रय घटित होता है।" आगे कहा है कि (भावार्थ—) इस प्रकार "सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"—ऐसा जो कहा है वह सब जैन सिद्धान्त में है और वही प्रमाण है।"

इससे सिद्ध होता है कि—चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व का त्याग होते ही साक्षात्* रत्नत्रय प्रगट होता है और फिर उसी शास्त्र मे कलश ६ की टीका, पृ० १२ में भी इसी प्रकार कहा है।

तृतीय अधिकार

+मोक्षमार्ग का दो प्रकार से निरूपण

सम्मदंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ ३९ ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरणं मोक्षस्य कारणं जानीहि।
व्यवहारात् निश्चयतः तत्त्रिकमयः निजः आत्मा ॥ ३९ ॥

---

* साक्षात् = श्रद्धा अपेक्षा निश्चयधर्म अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावरूप आंशिक निश्चयमोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होना है।

\+ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"—सम्यग्दर्शन आदि तीनों मिल कर मोक्षमार्ग हैं। सम्यग्दर्शन इत्यादि पृथक् पृथक् मोक्षमार्ग नहीं हैं। जैसे कोई रोगी केवल औषधि पर विश्वास करने से अथवा उसका ज्ञानमात्र करने से या उसका आचरण—सेवन करने से निरोग नहीं हो जाता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन इत्यादि में से किसी एक का सेवन करने से मोक्ष नहीं होता।

अन्वयार्थ—(व्यवहारात) व्यवहारनय से (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शन (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान और (चरणं) सम्यक्चारित्र को (मोक्षस्य) मोक्ष का (कारणं) कारण (जानीहि) जानो, (निश्चयत॰) निश्चयनय से (तत्त्रिकमय) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—इन तीनों की एकतारूप (निज॰) अपना (आत्मा) आत्मा मोक्ष का कारण है।

भावार्थ.—१. गाथा ८-९ का गाथा ३४-३५-३६ के साथ सम्बन्ध -गाथा ८ मे कहा है कि—जीव शुद्ध भावों का शुद्धनय से कर्ता है और गाथा ९ में कहा है कि—अपने शुद्ध भावों का शुद्धनय से भोक्ता है। इस अनुसधान में यह समझना चाहिए कि—जीव निश्चयमोक्षमार्ग का कर्ता-भोक्ता स्वयं ही है क्योंकि वह जीव का शुद्ध भाव है। गाथा ३४-३५-३६ मे संवर-निर्जरा का स्वरूप कहा है। संवर निर्जरा निश्चय मोक्षमार्ग है और उसके धारक मुख्यत॰ मुनिराज हैं, इसलिये निश्चय मोक्षमार्गका का दूसरा नाम एकाग्रतालक्षण श्रामण्य[1] भी है।

२. इस गाथा तथा ४० वीं गाथा मे कथित निश्चय मोक्ष-मार्ग'—इस गाथा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप निज-आत्मा को मोक्षमार्ग कहा है और गा० ४० मे यह बताया है कि—तीनों की एकतारूप आत्मा मोक्षमार्ग (मोक्ष का कारण) कैसे है। प्रवचनसार का गाथा २४२ की टीका में द्रव्यप्रधान निश्चयनय से जो प्रज्ञापन है, यह गाथा उनका अनुसरण करती है। श्री मोक्षशास्त्र में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग "— ऐसी व्याख्या की है, वह (निश्चयमोक्षमार्ग की) पर्याय की मुख्यता से की है। यह 'पर्यायप्रधान व्यवहारनय' से प्रज्ञापन

---

१. प्रवचनसार गाथा २४२, टीका।

है। (यहां 'व्यवहारनय' कहा है इसलिये वह शुभरागरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है ऐसा नहीं समझना चाहिये।) निश्चय मोक्ष-मार्ग का कथन प्रमाण से, द्रव्यार्थिकनय से (द्रव्यप्रधान निश्चय-नय से) और पर्यायार्थिकनय से (पर्यायप्रधान व्यवहारनय से) ऐसे तीन प्रकार से होता है,—ऐसा श्री प्रवचनसार गाथा २४२ की टीका में कहा है। इस प्रकार इस शास्त्र मे और मोक्षशास्त्र में कथनपद्धति का अन्तर होने पर भी भाव में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है।

३. निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग एक ही साथ—गाथा ४७ में कहा है कि—"कारण कि मुनि भी नियम से दोनों प्रकार के मोक्षकारणों को ध्यान से प्राप्त करते हैं, इसलिये उसमें प्रयत्नशील होकर तुम ध्यान का भलीभांति अभ्यास करो।' बृ० द्रव्यसग्रह की गाथा ४७ टीका पृष्ठ १८० कहा है कि—" इन दोनों प्रकार के भी मोक्षमार्ग को मुनि निर्विकार स्व-संवेदनरूप परम ध्यान द्वारा प्राप्त करते हैं।" इसी प्रकार श्री प्रवचनसार गा० २४० से २४२ के शीर्षक में तथा नियमसार गाथा ६० पृ० ११७ मे "सदैव निश्चय-व्यवहारात्मक सुन्दर चारित्र-भार वहन करने वाले" कहकर दोनों साथ ही होते हैं ऐसा प्रतिपादन किया है।

४. व्यवहार मोक्षमार्ग की व्याख्या—वीतराग सर्वज्ञप्रणीत छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों का सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान-व्रतानुष्ठान विकल्परूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। वह विकल्परूप होने से 'सराग दशा' (सराग अंश) है। वह पर-द्रव्यवृत्ति है, इसलिये उसे सूक्ष्म परसमय कहा जाता है। उसका फल संसार है। (समयसार गाथा ११, भावार्थ पृष्ठ २५) उसका

स्वरूप तथा उसका फल निश्चयमोक्षमार्ग से प्रतिपक्ष[1] है। शुद्धोपयोग अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग से शुभ और अशुभ उपयोग दोनों विलक्षण[2] हैं—विरोधी हैं, फिर भी मुनि के एकसाथ रहने मे कोई बाधा (विरोध) नहीं है। इस सराग अंश का अभाव दसवें गुणस्थान के अन्त मे होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग पर-द्रव्यप्रवृत्ति है। श्री पंचास्तिकाय गाथा १६० में जो व्याख्या की है उसमे इसी प्रकार बताया है। इस शास्त्र की २९ वीं गाथा के अनुसार वह आस्रव है।

५ निश्चय मोक्षमार्ग की व्याख्या–निज निरंजन शुद्धात्म-तत्त्व के सम्यक्श्रद्धान–ज्ञान–अनुचरण में (आचरण मे) एकाग्र-परिणतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग है। (यह व्याख्या मोक्षशास्त्र के अनुसार है।) इस गाथा तथा ४० वीं गाथा के अनुसार निश्चय से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय निज आत्मा निश्चयमोक्षमार्ग है।

६. 'धातुपाषाण से अग्निवत् साधक व्यवहार मोक्षमार्ग' इस कथन का अर्थ—दृष्टान्त सदा एकदेशी होता है, सर्वांश लागू नहीं होता। सुवर्ण को पकाने में उपादानकारण तो सुवर्ण स्वयं और उसकी योग्यता है, किन्तु निमित्त अग्नि ही होती है। किसी अन्य में उचित निमित्तपने की योग्यता नहीं है। इसी प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग के लिये उपादानकारण तो अपना आत्मा और उसकी योग्यता है, परन्तु निमित्त में व्यवहारमोक्षमार्ग ही होता है, अन्य किसी भाव मे निमित्तपने की योग्यता नहीं है। दृष्टान्त मे दो भिन्न पुद्गल पदार्थ हैं। (सिद्धान्त) साधक को चारित्र-

---

१ नियमसार पृष्ठ १४९, प्रवचनसार गाथा ७२ रायचन्द्र जैनशास्त्र-माला पृष्ठ ९२, श्री जयसेनाचार्य।

२ प्रवचनसार गा० ९१ अमृ० स० टीका।

गुण की एक पर्याय में दो अंश—एक वीतरागी अंश और दूसरा सरागी अंश है। अग्नि जिस प्रकार निमित्तरूप से व्यवहारनय से साधक है, उसी प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग निमित्तरूप से व्यवहारनय से साधक है अर्थात् उपचार से साधक है। वास्तव में साधक होता तो वह 'व्यवहार' ऐसा नाम नहीं पाता।

७. इस शास्त्र की ४५ वीं गाथा जो व्यवहारचारित्र संबंधी है, तथा ४९ वीं गाथा जिसमें मन्त्रजाप तथा पंचपरमेष्ठी का ध्यान करना बतलाया है वह व्यवहारमोक्षमार्ग को प्ररूपित करती है।

८ साधक व्यवहारनय से.—इस अधिकार मे तथा अन्य स्थानों पर व्यवहार को निश्चय का साधक कहा है। वहाँ प्रत्येक स्थान पर वह व्यवहारनय से साधक होने के कारण उसका अर्थ निमित्तमात्र है ऐसा समझना चाहिये। तथा प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा कुछ लोग मानते हैं वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि निश्चयरूप साध्य हो तब उस काल के या पूर्वकाल के रागांश को 'व्यवहार' (उपचार) कारण कहा जाता है। यदि निश्चयरूप साध्य (कार्य) न हो तो साधक किसका? कार्य हुए विना किसी भी वस्तु या पर्याय को निमित्तकारण नहीं कहा जा सकता। कार्य के विना कारण किसका कहा जाय? इसलिये कार्य होने से पूर्व उस समय का रागांश या पूर्व का रागांश व्यवहार मोक्ष-मार्ग (व्यवहार) साधक नाम नहीं पाता है।

९. निश्चय साधक पुरुष ही (आत्मा ही) अभेदनय से शुद्धनय का विषय होने से शुद्धात्म का साधक होने से, शुद्ध अभिप्राय रूप परिणत होने से शुद्ध है ऐसा जानना चाहिये। (देखो, समयसार गाथा १४, श्री जयसेनाचार्य की टीका, अंतिम भाग, नई आवृति दिल्ली पृष्ठ ३८, पुरानी आवृत्ति रा० शास्त्रमाला पृष्ठ ४१) ॥ ३९ ॥

निश्चय मोक्षमार्ग का विशेष कथन

रयणत्तय ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।
तह्मा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥ ४० ॥

रत्नत्रयं न वर्त्तते आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये ।
तस्मात् तत्त्रिकमयः भवति खलु मोक्षस्य कारणं आत्मा । ४०॥

अन्वयार्थः—(आत्मानं) आत्मा को (मुक्त्वा) छोड़कर (अन्यद्रव्ये) अन्य द्रव्य में (रत्नत्रय) रत्नत्रय (न वर्त्तते) नहीं रहता (तस्मात्) इस कारण (तत्त्रिकमयः) वह तीनों रत्नों की एकतावाला (आत्मा) आत्मा (खलु) वास्तव में (मोक्षस्य कारण) मोक्ष का कारण (भवति) है ।

भावार्थ—निश्चयरत्नत्रय का स्थान—(१) निज शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी अन्य द्रव्य मे निश्चयरत्नत्रय नहीं होते—नहीं वर्तते । "मुक्ति की प्राप्ति के लिये जगत मे अन्य कोई पदार्थ नहीं है—नहीं है ।" (नियमसार, कलश १३५, पृ० १९४) । किसी भी परपदार्थ के आलम्ब से रत्नत्रय प्रगट नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें वे नहीं होते । जीवों के अनादिकाल से पराश्रयबुद्धि वर्तती है । अनुकूल पदार्थो का सयोग हो तो स्वयं सुखी और प्रतिकूल पदार्थों का सयोग हो तो दुःखी—ऐसी मिथ्या मान्यता कर रहा है । परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट कभी हैं ही नही ऐसा वह नहीं मानता, इसलिये पर-पदार्थो की ओर का आश्रय छुड़ाकर त्रैकालिक शुद्ध उपादान निज शुद्धात्मा का आश्रय यहा कराया है ।

(२) व्यवहार रत्नत्रय है सो परद्रव्य प्रवृत्ति है, उसके

आश्रय का फल संसार है, इसलिये परद्रव्य के ओर की प्रवृत्ति छोड़कर (स्वद्रव्य के आश्रयरूप) स्वद्रव्यप्रवृत्ति किये बिना कभी निश्चयरत्नत्रय प्रगट नहीं होता।

(३) अपना आत्मा ही अपना आलम्बन साधन[१] है और यह पर[१] से निरपेक्ष—निरालम्ब है, ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

(४) और इसीलिये निज परमात्मतत्त्व[२] के सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयमार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का सच्चा उपाय है और उस शुद्ध रत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (मोक्ष की प्राप्ति) है।

२. वह त्रिकमय निज आत्मा—यह कथन द्रव्यार्थिकनय का है—यह गाथा ३९ में बताया है। श्री समयसार की गाथा २७७ के अनुसार यह गाथा है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता सो 'रत्नत्रय' है—ऐसा मूल गाथा में ही कहा है। इससे यह समझना चाहिये कि शुद्ध आत्मा दर्शन है, क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है, शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान का आश्रय है, शुद्ध आत्मा चारित्र है, क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है। उसमें व्यवहारनय प्रतिषेध्य-निषेध्य है—ऐसा समझना चाहिए।

३. समस्त व्यवहार छोड़ने योग्य है:—श्री योगीन्द्रदेवकृत 'योगसार' की गाथा ३७, ५५ तथा ८९ में ऐसा कहा है कि सभी व्यवहार छोड़ने योग्य है, उन्हें छोड़े बिना रागांश का अभाव

---

१ नियमसार गाथा ९९, प्रवचनसार गाथा १९२।

२ नियमसार गाथा २ टीका, पृष्ठ ७। वह (शुद्धरत्नत्रयमार्ग) व्यवहार-रत्नत्रय से परमनिरपेक्ष है ऐसा उसका अर्थ है। (व्यवहार का फल संसार है। देखो, समयसार गाथा ११ का भावार्थ)

कैसे हो सकता है ? व्यवहार रत्नत्रय है अवश्य, यदि वह होवें ही नहीं तो छोड़े किसे ? यदि वह यथार्थ धर्म हों तो छोडने योग्य नहीं हो सकते, इसलिये उन्हें मात्र व्यवहारनय से 'साधक'[1] कहा हैं, किन्तु इससे यह मानना भ्रम है कि उनमें अंशमात्र भी धर्म है।

४. मोक्ष का कारण—यह रत्नत्रयरूप परिणमित अपना आत्मा ही मोक्ष का वास्तविक निश्चयकारण (साधन) है-ऐसा बतलाकर यह स्पष्ट बताया है कि व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है। मोक्षमार्ग के तीनों अवयवों की व्याख्या इसके बाद की गाथा ४१, ४२ और ४६ मे दी है ॥ ४० ॥

सम्यग्दर्शन का लक्षण

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥
जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं रूपं आत्मनः तत् तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन् ॥

अन्वयार्थः—(जीवादिश्रद्धानं) जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन है (तु) और (तत्) वह (आत्मन.) आत्मा का (रूप) स्वरूप है (यस्मिन् सति) जिस सम्यग्दर्शन के होने पर (खलु) यथार्थ में (ज्ञानं) ज्ञान (दुरभिनिवेशविमुक्तं) विपरीत[2] अभिप्राय से रहित (सम्यक्) सम्यक् (भवति) होता है।

---

१ यहा साधक अर्थात् निमित्त-ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

२ संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप ज्ञान को दुरभिनिवेश (विपरीत अभिप्राय) कहा जाता है ।

भावार्थ—१ निश्चय सम्यग्दर्शनः—यह गाथा निश्चय-सम्यग्दर्शन की है। आत्मा में 'श्रद्धा' नामक एक गुण है, उसकी अनादि से विपरीत पर्याय है जिसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में उस पर्याय का अभाव होकर सम्यग्दर्शनरूप पर्याय होती है। वह सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वरूप है। उस श्रद्धागुण की तीन प्रकार की पर्यायें होती हैं:—

(१) मिथ्यादर्शन—जो जीवों के अनादिकाल से है। (और जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद पुन मिथ्यादर्शन-रूप परिणमित हों उनके होता है, वे सादि मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं) यह पर्याय उल्टी-विपरीत है।

(२) सम्यग्दर्शन—श्रद्धा गुण की शुद्ध पर्याय है, उसे इस गाथा में 'आत्मन. रूपं' अर्थात् आत्मा का स्वरूप कहा है। श्री पुरुषार्थसिद्धि उपाय गाथा २२ में 'आत्मरूपं तत्' अर्थात् वह आत्मस्वरूप है–ऐसा कहा है। (यह शास्त्र श्रावकाचार है।) यह पर्याय चतुर्थ गुणस्थान में प्रथम उपशम सम्यक्त्व के होते ही प्रगट होती है। पुरुषार्थसिद्धि उपाय की वह गाथा निम्नानुसार है—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश-विविक्तात्मरूपं तत् ॥

(इस गाथा का अर्थ श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७१ में निम्नोक्तानुसार किया है):—

"विपरीत अभिनिवेश रहित जीवाजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदाकाल करने योग्य है। यह श्रद्धान आत्मा का ही स्वरूप है, क्योंकि वह दर्शनमोहरूप उपाधि के दूर होने पर प्रगट

होता है, इसलिए वह आत्मा का स्वभाव है। वह चतुर्थादि गुणस्थानों में प्रगट होता है और फिर सिद्धदशा में भी सदाकाल उसका सद्भाव रहता है।"

(३) मिश्र अवस्था—जो कुछ सम्यक् तथा कुछ मिथ्यात्वरूप होती है। यह अवस्था सादि मिथ्यादृष्टि के होती है और वह सम्यक्त्व से पतन होने पर होती है तथा वह अत्यन्त अल्पकाल रहती है। (इसलिए इस पर्याय के सम्बन्ध में विशेष कथन की आवश्यकता नहीं है, यह तीसरे गुणस्थान में ही होती है।)

२. चौथे गुणस्थान मे प्रगट होने वाला निश्चयसम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है—सम्यग्दर्शन तो कहीं दो[1] नहीं हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ यथार्थ सम्यग्दर्शन को सम्यग्दर्शन निरूपित किया है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा जो सम्यग्दर्शन तो नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन का निमित्त है अथवा सहचारी है उसे उपचार से सम्यग्दर्शन कहा है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र[2] ऐसा ही लक्षण है। अर्थात् यथार्थ निरूपण सो निश्चय और उपचारनिरूपण सो व्यवहार है। इसलिये निरूपण की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का जानना चाहिये। किन्तु एक निश्चयसम्यग्दर्शन है और एक व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार दो सम्यग्दर्शन मानना मिथ्या है।

३. निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन की व्याख्या तथा उसका एक ही काल मे होना (१) सच्चे देव-गुरु-धर्म में दृढ़ प्रतीति, (२) जीवादि सात तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति, (३) स्वपर का

१ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३६५-३६६। 'मोक्षमार्ग' के स्थान पर सम्यग्दर्शन शब्द ऊपर लिया है।

२ चारों अनुयोगों के सभी शास्त्रों मे।

श्रद्धान, (४) आत्मश्रद्धान अर्थात् श्रद्धागुण की निर्मल दशा प्रगट होने से अपने शुद्धात्मा की अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन लक्षणों के अविनाभाव सहित जो श्रद्धा होती है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शन एक ही काल मे होते हैं। विपरीताभिनिवेश रहित आत्मपरिणाम निश्चय सम्यक्त्व है। क्योंकि यह सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है। और सत्यार्थ का नाम ही निश्चय है, और विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान का (निमित्त) कारणभूत श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। क्योंकि यहां कारण मे कार्य का उपचार किया है और उपचार का नाम ही व्यवहार है। वहाँ जीव को देव-गुरु-धर्मादि की सच्ची श्रद्धा है, और उसी के निमित्त से उसके श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव होता है। इसलिये यहां विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान तो निश्चय सम्यक्त्व है, और देव-गुरु-धर्मादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। इस प्रकार एक ही काल में उसके दोनों सम्यक्त्व होते हैं।

४ उपरोक्त निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या का स्पष्टीकरण—(१) जिस जीव को सच्चे देव-गुरु-धर्म की प्रतीति होती है उसे सात तत्त्व की, स्व-पर की तथा आत्मा की श्रद्धा अवश्य होती है, क्योंकि सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का प्रयोजन सात तत्त्वों की श्रद्धा है, और सात तत्त्वोंकी श्रद्धाका प्रयोजन ऐसी श्रद्धा करना है कि—जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष तो स्व हैं, तथा अजीव, आस्रव और बंध पर हैं। और स्व-पर की श्रद्धा का प्रयोजन अपनी पर्याय को अपने जीव-सामान्य के सम्मुख करना है। क्योंकि उसके आश्रय से संवर, निर्जरा और मोक्ष पर्याय प्रगट होती है।

(२) यदि इन चार में से किसी एक, दो या तीन की श्रद्धा हो, शेष की न हो तो यह समझना चाहिये कि उसे एक की भी सच्ची श्रद्धा नहीं है।

(३) देव, गुरु और धर्म अथवा आप्त, आगम और गुरु की श्रद्धा—इन दोनों कथन में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से सिद्धावस्था तक सभी सम्यग्दृष्टियों के होता ही है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक ३०, ३३, ३४, ३५ और ३६ अति महत्वपूर्ण हैं। इसके श्लोकांक ३० मे कहा है कि—"शुद्धदृष्टि (निश्चय सम्यग्दृष्टि) जीव भय, आशा, स्नेह अथवा लोभ से कुदेवादि को न तो प्रणाम करता हैं और न उनकी विनय करता है।" श्लोकांक ३३ मे कहा है कि—"निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु मोही (मिथ्यादृष्टि) मुनि मोक्षमार्ग मे स्थित नहीं है। इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनि से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।" (मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता)। श्लोकांक ३५ में कहा है कि—"सम्यग्दर्शन से शुद्ध अव्रती हो तो भी वह नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकलांग या निर्धनता मे जन्म नहीं लेता।" यहाँ चतुर्थ-गुणस्थान वाला जीव शुद्ध (निश्चय) सम्यग्दर्शनधारी होता है। यह स्पष्ट किया है। श्लोकांक ३६ मे यह बतलाया है कि—सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव कैसे कुल म जन्म लेते हैं तथा कैसे शरीर की प्राप्ति करते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव के पवित्र (निश्चय) सम्यग्दर्शन होता है।

इस श्लोक ३५-३६ का आधार वृ० द्रव्यसंग्रह की गाथा ४१ टीका पृष्ठ १६१ मे लिया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोकांक ३४ मे कहा है—"तीनकाल और तीनलोक में शरीरधारियों को सम्यक्त्व के समान कुछ भी कारण-श्रेय नहीं है। और मिथ्यात्व के समान कुछ भी अकल्याण-अश्रेय नहीं है।

मिथ्यात्व, सम्यग्दर्शन के होने पर चौथे गुणस्थान में ही जाता है। कल्याणकारी सम्यग्दर्शन तो निश्चय सम्यग्दर्शन है, क्योंकि वह श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय है। व्यवहार सम्यक्त्व श्रद्धागुण की पर्याय ही नहीं है, वह तो चारित्रगुण की विकारी पर्याय अर्थात शुभोपयोग है—ऐसा श्री प्रवचनसार की १५७वीं गाथा मे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने स्वयं कहा है, इसलिये चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा निर्णय करना चाहिये।

२. पुरुषार्थसिद्धि उपायः—(जो श्रावकाचार का शास्त्र है) गाथा २२ में कहा है कि—विपरीत अभिनिवेश से रहित जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदाकाल कर्तव्य है। वह श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। चतुर्थ गुणस्थान से निश्चय सम्यक्त्व होता है ऐसा उसका अर्थ है, क्योंकि यहाँ उसे आत्मा का स्वरूप कहा है और सदा कर्तव्य है। व्यवहार-सम्यक्त्व तो राग है, वह निचले गुणस्थान में-खेद है कि—आये बिना नहीं रहता, किन्तु सम्यग्दृष्टि उस राग का मात्र ज्ञाता है, कर्ता नहीं है अर्थात् उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता। यह सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान मे प्रारम्भ होता है और सिद्ध दशा मे भी सदाकाल उसका सद्भाव रहता है—ऐसा मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७१ मे कहा है। यह व्याख्या सात तत्त्वों की मुख्यता से है, वहां शेष तीन (-निज आत्मा का, स्व-पर का तथा सुदेवादि का श्रद्धान) अविनाभाव

रूप से होते हैं। सिद्ध भगवान को व्यवहार सम्यक्त्व नहीं होता।

५. शास्त्रों में सम्यग्दर्शन सम्बन्धी कथनपद्धतिः—शास्त्रों में अनेक स्थानों पर सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् चारित्र की सविकल्प दशा अथवा निर्विकल्प दशा को मिलाकर सम्यग्दर्शन का वर्णन किया जाता है। उस प्रसंग मे निम्नोक्तानुसार कथन होता है:—

(१) दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे सम्पूर्ण राग का अभाव होता है और उसके पूर्व भूमिकानुसार राग रहता है इसलिये "चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक के जीव सरागी सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं और उसके बाद के ऊपर के वीतरागी कहलाते हैं[1]।"

(२) सातवे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक अबुद्धि-पूर्वक राग रहता है, उसे गौण करके "×××अप्रमत्तादि[2] गुण-स्थानवर्ती वीतराग चारित्र अविनाभूत वीतराग सम्यक्त्व" और चौथे-पाचवें तथा छठवें गुणस्थान में सराग सम्यक्त्व कहा है।

(३) वीतरागी भावलिंगी मुनि सातवें और छट्ठे गुण-स्थान मे बारम्बार आते हैं उसकी मुख्यता को लेकर श्री जयसेना-चार्य ने श्री समयसार की टीका में कहा है कि—"पंचमगुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियों का मुख्यता से

---

१ पं० हीरालाल जी कृत द्रव्यसग्रह टीका, गाथा २६, पृ० १२१।

२ श्री समयसार गाथा १७७-१७८ श्री जयसेनाचार्यजीकी टीका, पृ० २५२-२५३ प्रथमावृत्ति। ऐसा कथन द्रव्यसंग्रह गाथा २२ तथा परमात्मप्रकाश की टीका में आया है, किन्तु वहाँ गुणस्थान नहीं बताये हैं।

और सराग सम्यग्दृष्टियों का गौण रूप से ग्रहण इस प्रकार वर्णन 'सम्यग्दृष्टि' की व्याख्या के समय सर्वत्र तात्पर्यरूप से जानना चाहिये[1]।

[सराग सम्यग्दृष्टि को वीतराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा जाता है और वीतराग सम्यग्दृष्टि को सराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से निश्चयसम्यग्दृष्टि भी कहा जाता है। "जिन जीवों को व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा है वे उपचार से सम्यग्दृष्टि हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये, परन्तु वे वास्तव में सम्यग्दृष्टि हैं ऐसा समझना चाहिये। चारित्र की अपेक्षा से रागादि का अस्तित्व होने से सराग सम्यक्त्ववान कहकर व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा है। श्री जयसेनाचार्यदेव ने स्वयं ही (पंचास्तिकाय की १५०–१५१ वीं गाथा की टीका में) कहा है कि जब यह जीव आगम भाषा में कालादिलब्धिरूप और अध्यात्मभाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदन को प्राप्त करता है तब प्रथम तो वह मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम और क्षयोपशम द्वारा सराग सम्यग्दृष्टि[2] होता है।" इस प्रकार सराग सम्यग्दृष्टि भी यथार्थ (सच्चे–निश्चय) सम्यग्दृष्टि हैं।]

बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीका पृष्ठ १३७–३८ में सम्यग्दृष्टि को "वीतराग' ऐसा विशेषण किस लिये लगाया है?

ऐसा प्रश्न किया है। उसके समाधान में कहा है कि भेदविज्ञान उत्पन्न होने पर भी जितने अंश से रागादि का अनुभव करता है

---

१ श्री समयसार गाथा २०१–२०२, श्री जयसेनाचार्यजी की टीका पृ० २८७, प्रथमावृत्ति।

२ श्री पंचास्तिकाय गाथा २७२ टीका पृ० २६१ फुटनोट तथा पंचास्तिकाय श्री जयसेन जी टीका पृ० २१७–२१८।

उतने अंश मे भेदविज्ञानी पुरुष भी बंधता है। (यहा किसी गुणस्थान की बात नहीं कही है।)

(४) श्रद्धागुण की एक की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होने वाला सम्यग्दर्शन यथार्थ है इसलिये वह निश्चय सम्यग्दर्शन है और सातवें गुणस्थान मे प्रगट होने वाला वीतराग अथवा निश्चय सम्यग्दर्शन श्रद्धा और चारित्र इन दो गुणों को एकत्रित करके कहा गया है। इस सम्बन्ध मे श्री 'परमात्म प्रकाश' अध्याय–२ गाथा—१७ पृष्ठ १४६–४७ मे कहा है कि—"इन महा पुरुषों को शुद्धात्मा उपादेय है,—ऐसी भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व तो है, किन्तु चारित्रमोह के उदय से स्थिरता नहीं है।" आगे चलकर इसी टीका मे कहा है कि—"शुभराग के योग से वे सराग सम्यग्दृष्टि हैं।"

(५) श्री 'पंचाध्यायी' (भाग–२) में कहा है कि—सम्यक्दर्शन में सविकल्प (सराग–व्यवहार) और निर्विकल्प (वीतराग–निश्चय) ऐसे भेद यथार्थत: नहीं हैं। उसकी गाथा ८२१–२२ में कहा है कि—शास्त्र और लोक मे ऐसी रूढ़ि है कि सम्यक्त्व निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार का है। व्यवहार सम्यक्त्व सराग अर्थात् सविकल्प है और निश्चय सम्यक्त्व वीत-राग अर्थात् निर्विकल्प है। इसके समाधान मे प्रथम ऐसा बताया है कि—यथार्थ में ऐसा मानने वाले अपनी प्रज्ञा के अपराध से मिथ्या आशय वाले हैं। उनका जो भी श्रुत–अभ्यास है वह मात्र कायक्लेश के लिये है। (गाथा ८२७) शास्त्रों में यह कथन किस प्रकार आता है इसका स्पष्टीकरण (आगे चलकर) अनेक गाथाओं में दिया है, उनमे से दो गाथाये अत्यावश्यक होने से यहा दी जा रही हैं। 'पंचाध्यायी' भाग २, गाथा ९०२ निम्नानुसार है:—

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात्स्थूल लक्ष्योन्मुखैरिह ।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुते किल साम्प्रतम् ॥ ९०१ ॥

अर्थः—किन्हीं पुरुषों ने स्थूल उपचार दृष्टि से जो दर्शन-ज्ञान को सविकल्प कहा है उसमे जो उपचार कारण है उसे मैं अब स्पष्ट रूप से कहता हूँ।

(६) तत्पश्चात उपचार कारण की चर्चा करके गाथा ९०९-१० में कहा है कि:—

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः ।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥
हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम् ।
आप्रमत्तं च सम्यक्त्व ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥

अर्थः—केवल इस बात का विचार करके किन्हीं पुरुषोंने उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से उन गुणस्थानों में रागों सहित ज्ञान को देखकर सम्यक्त्व को भी वैसा (सराग) कहा है। ९०९।

केवल इस हेतु से बुद्धिपूर्वक राग के हेतु से (प्रसिद्ध रीति से स्थूल उपचार दृष्टि से उनकी ओर से ऐसा कहा है कि प्रमत्त गुणस्थान तक चौथे पांचवें-छट्ठे गुणस्थान तक) सम्यक्त्व और ज्ञान सविकल्प (सराग) हैं। ९१०।

(७) उपरोक्त शास्त्रों में तथा अन्य शास्त्रों मे जहां श्रद्धा और चारित्रगुण की पर्यायों का भिन्न भिन्न वर्णन किया है वहां ऐसा वर्णन है कि—चौथे गुणस्थान से ही जीव के (१) शुद्ध[१] जिनज्ञानदृष्टि, (२) सम्यक्त्वचरण चारित्र, (३) जिन[१]

---

१ चारित्र पाहुड गाथा ५-८-९-१३-१४-१७-१९ ।

सम्यक्त्व गुण विशुद्ध और (४) सम्यक्त्वचरण शुद्ध होता है। (५) जो जीव विशुद्ध सम्यक्त्व (श्रद्धा) करता है वह चारित्र के दोष का परिहार करता है। (६) सम्यक्त्व का अनुसरण करने वाला दुःख का क्षय करता है।

(८) १-श्रावकत्व तथा मुनित्व[1] के कारणभूत निश्चय-सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

२—अविरत देशविरत[2] आदि में गुण का एकदेश होता है।

३—शुद्धात्म भावना से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख उपादेय है, ऐसी प्रतीति करना (प्रतिभाति) सो भावसम्यग्दृष्टि[3] है। वह निश्चय सम्यक्त्व[4] है।

४—श्रद्धान सदाकाल कर्तव्य है। यह आत्मा[5] का ही स्वरूप है। वह दर्शनमोहरूप उपाधि[6] के दूर होने पर प्रगट होता है, इसलिये वह आत्मा का स्वभाव है। वह चतुर्थादि

---

१ 'भाव पाहुड' गाथा ६६, अर्थ तथा भावार्थ।

२ भावपाहुड गाथा १२० भावार्थ।

३ पंचास्तिकाय गाथा १६३ तत्थाविका पृ० २२३ जयसेनाचार्य।

४ परमात्मप्रकाश अध्याय १ गाथा ९३, पृ० ९७ सं० गाथा ९४ पृ० ९८, अ० २ गाथा १५, पृ० १४३ सं० (तत्पश्चात् अ० २ गाथा १७ पृ० १४६–१४७ दो प्रकार से व्याख्यान) दिल्ली का मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ९ पृ० ४८९। बनारसीदास कृत समयसार नाटक गुणस्थान अधिकार। श्लोक ५१ पहला चरण, दूसरी पंक्ति, पृ० ४९०।

५ पुरुषार्थसिद्धि उपाय गाथा २२।

६ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ४७०–४७५–४८९ दिल्ली से प्रकाशित।

गुणस्थान में प्रगट होता है, पश्चात् सिद्धावस्था में भी उसका सदाकाल सद्भाव रहता है।

५—तिर्यंचादि और केवली—सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व गुण समान कहा है।

६—विपरीत अभिनिवेश रहित आत्मपरिणाम निश्चय सम्यक्त्व है, क्योंकि यह सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है।

७—सम्यक्दर्शन[1] शुद्ध—निर्मल होता है।

८—जिन्हें भेदज्ञान प्रगट हुआ है जिनका चित्त चन्दन[2] जैसा शीतल हुआ है, जो शिवमार्ग में केलि करते हैं, जो जिनेश्वर के लघु नन्दन हैं, जिनके सत्य स्वरूप सदा प्रगट हुआ है जिनकी शांत दशा है और जिन्हें गणधर जैसा विवेक प्रगट हुआ है वे सम्यग्दृष्टि हैं।

९—सम्यक्त्व होते समय निर्विकल्प[3] दशा होती है और उसके पश्चात् भी किसी किसी समय निर्विकल्प दशा होती है।

१०—जो अन्तरात्मपना[4] प्रगट होता है वह मिथ्यात्व रागादि रहित होने से शुद्ध है,—उसमें जितने अंश में शुद्धि है उतने अंश में मोक्षका कारण होता है।

---

१ बृ० द्रव्यसंग्रह (रायचन्द शास्त्रमाला) पृ० १५१, १६१, १७६, रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा ३५–३६।

२ बनारसीदास कृत समयसार नाटक, मंगलाचरण काव्य ६-७-८।

३ अनुभव प्रकाश पृ० ५, प्रवचनसार गाथा ८० जयसेनाचार्य टीका, पृ० १०१–१२०, पं० टोडरमल जी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, मोक्षमार्ग प्रकाशक गुज० पृ० ३४९।

४ प्रवचनसार अध्याय ३, गाथा ३८, पृ० ३२९ जयसेनाचार्य।

११—श्रावक को भेदाभेदरत्नत्रय तथा शुद्धोपयोग-शुद्धात्म-भावना होती है।

१२—सम्यग्दृष्टि जीव अंतर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति को साधक जानता है, वह बाह्यभाव को बाह्यनिमित्तरूप मानता है। वे निमित्त नाना प्रकार के हैं—एकरूप नहीं हैं, इसलिए वह अंतर्दृष्टि के प्रमाण में मोक्षमार्ग को साधता है।

इत्यादि प्रकार से चौथे गुणस्थान से प्रगट होने वाले सम्यग्दर्शनकी अद्‌भुत महिमा है। उसके प्रगट होने पर ज्ञान में से भी विपरीतता छूट जाने पर सम्यग्ज्ञान होता है। (देखो आगे की गाथा ४२, भावार्थ, पैरा नं० ४)

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय—श्री समयसार गाथा ११ मे बतलाये गये भूतार्थनय के विषयभूत निज ज्ञायकभाव का आश्रय करना चाहिये। धर्म प्रगट करने के लिये आदि, मध्य और अन्त में यह एक ही उपाय है॥४१॥

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

संशयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयमेयं च ॥ ४२ ॥

संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं आत्मपरस्वरूपस्य ।
ग्रहणं सम्यग्ज्ञानं साकारं अनेकभेदं च ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं) संशय, विमोह और विभ्रम से रहित (साकारं) आकार-विकल्प सहित (आत्म-परस्वरूपस्य) आत्मा और पर के स्वरूप का (ग्रहणं) ग्रहण करना

जानना सो (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान है, (च) और वह (अनेकभेदं) अनेक प्रकार का है।

[*संशयादि दोष रहित और आकार सहित स्व-पर पदार्थों का जानना सो सम्यग्ज्ञान है।]

भावार्थ—१. ज्ञान साकार है,—इसका अर्थ प्रथम तो जो अर्थविकल्प है सो ज्ञान है। यहां 'अर्थ' क्या है और 'विकल्प' क्या है? उत्तर (१) स्व-पर के विभाग पूर्वक रहने वाला विश्व 'अर्थ' है। समस्त पदार्थों को समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को 'विश्व' ऐसे एक शब्द से कहा जाता है। इसलिये छहों द्रव्य, उनके गुण और पर्यायों के समूह को विश्व कहते हैं,—ऐसा समझना चाहिये। पदार्थों में स्व और पर ऐसे दो विभाग हैं। जो जानने वाली आत्मा का अपना हो सो 'स्व' है और अन्य सब पर है।

(२) उनके आकारों का अर्थात् स्वरूपों का अवभासन 'विकल्प' है। (अवभासन अर्थात् अवभासित होना, प्रकाशित होना, जानना, प्रगट होना, एक पदार्थ से दूसरा पदार्थ जिस प्रकार

---

*संशय—" विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशय "—ऐसा है कि ऐसा है' इस प्रकार जो परस्पर विरुद्धता पूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान है सो संशय' है। जैसे—आत्मा अपने कार्य को कर सकता होगा कि जड़ के कार्य को कर सकता होगा' ऐसा जानना सो संशय है।

विपर्यय—" विपरीतैककोटिनिश्चयो " विपर्ययः—वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'ऐसा ही है' इस प्रकार जो एकरूप ज्ञान है सो 'विपर्यय' है। जैसे—शरीर को आत्मा जानना सो विपर्यय है।

अनध्यवसाय—" किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः"—' कुछ है' ऐसे निर्धार रहित विचार का नाम अनध्यवसाय है। जैसे—'मैं कोई हूँ' ऐसा जानना सो 'अनध्यवसाय' है।

भिन्न है उसी प्रकार अपने ज्ञान मे सुदृढ़तया भास होना।)

इस प्रकार स्व-पर पदार्थो का भिन्नतापूर्वक युगपद् अवभासन होना सो ज्ञान है। जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं वैसे ही जिस मे युगपद् स्व-पर आकार (स्वरूप) अवभासित होते हैं वह ज्ञान है।

२. युगपद् स्व-पर के स्वरूप का ज्ञान होने के संबंध में दृष्टान्त—परमात्मा अनन्त ज्ञान-सुखादि रूप से मैं हूं, तथा रागादि आस्रव मुझसे पृथक् अर्थात भिन्न हैं,—इस प्रकार स्व-पराकार का अवभासन सो युगपद् स्व-पर का यथार्थ[1] ज्ञान है क्योंकि आत्मा और आस्रव का भेद जहा तक जीव नहीं जानता है वहां तक बन्ध हुये विना नहीं रहता, और जब आत्मा तथा आस्रव का अंतर (भेद) जान लेता है तब उसके बंध का निरोध[2] होता है।

३ आकार-विकल्प के अर्थ.—(१) आकार का अर्थ यहां लम्बा-चौड़ा या गोल, चौकोर नहीं होता, किन्तु ज्ञान साकार है अर्थात ज्ञान ही भिन्न-भिन्न पदार्थोकी तथा उसके स्वरूप की मर्यादा निश्चित करता है। (२) विकल्प का अर्थ यहां राग—(वि = विरुद्ध, कल्प = आचार) ऐसा नहीं करना चाहिये. किन्तु वि अर्थात विशेष और कल्प अर्थात जानना। इस प्रकार विकल्प का अर्थ यहां "ज्ञान" समझना चाहिये।

४ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का कारण-कार्यपना— ज्ञान[3] में मिथ्या तथा सम्यक्-ऐसी संज्ञा मिथ्यादर्शन और

---

१ प्रवचनसार गा० १२४ टीका, पृ० २०३ गु०. स० टीका पृ० ३०४, श्री जयसेनाचार्यजी।

२ समयसार गाथा ३० से ७२ तथा ७४

३ मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ४, पृष्ठ १२६

सम्यग्दर्शनके निमित्तसे होती है। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थों को जानते तो समानरूप से हैं, परन्तु वही ज्ञातृत्व मिथ्यादृष्टि के मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान नाम धारण करता है। इसी प्रकार सर्व मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान का (निमित्त) कारण मिथ्यादर्शन-सम्यग्दर्शन जानना चाहिये।

प्रश्न—ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् होते हैं, तब फिर उनमें कारणकार्यपना कैसे कहते हो?

उत्तर—"यह हो तो यह होता है"—इस अपेक्षा से कारणकार्यपना होता है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं, तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है, इसलिये दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है—ऐसा यहाँ जानना।

५. सम्यग्ज्ञान और रागः—सम्यग्ज्ञानोपयोग का विषय जब आत्मा हो तब वह ज्ञान स्वसंवेदन ज्ञान कहा जाता है, इसलिये चारित्र की अपेक्षासे उस ज्ञानको वीतरागी ज्ञान अथवा निश्चयज्ञान, और जब उस ज्ञान का विषय सम्यग्दृष्टि के पर-पदार्थ हों तब उस ज्ञान को व्यवहारज्ञान स्थूल दृष्टि से कहा जाता है। किन्तु इससे वह व्यवहारज्ञान उपचाररूप नहीं हो जाता, किन्तु वास्तव मे वह (निश्चय) सम्यग्ज्ञान ही है। यह विषय पंचाध्यायी मे कहा गया है। (देखो गाथा ४१) जैसा भावार्थ पैरा ५ (१) मे (७) मे है उस प्रकार यहा भी ऐसा समझना चाहिये कि दोनों गुणों को पृथक् पृथक् न मानकर वह ज्ञान सचमुच सम्यक् ही है, उपचार नहीं है।

प्रश्न—चारित्र की अपेक्षा मे कथन हो तब राग के साथ रहने वाले सम्यग्ज्ञान को व्यवहारज्ञान कहकर उसे-साधक

तथा निर्विकल्प दशा के निश्चयज्ञान को साध्य[1] कहा जाता है। इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि अपने पुरुषार्थ में वृद्धि करके स्व-सवेदन ज्ञानरूप से परिणमित होता है तब उपरोक्त व्यवहारज्ञान का अभाव होता है, तथापि उस समय वह सहचारी है-ऐसा भूतनैगमनय से मानकर उसे निमित्त—बहिरंग साधक (उचित निमित्त) का ज्ञान कराने के लिये कहा जाता है। वास्तव में निश्चय साधक तो अपना स्वसन्मुख हुआ पुरुषार्थ है,—ऐसा समझना चाहिये।

६. सम्यग्ज्ञान के हेतु होने वाली प्रवृत्तिः—यदि जीव[2] को प्रथम सच्चा तत्त्वज्ञान हो तो वह पुण्य-पाप के फल को संसार जाने, शुद्धोपयोग से मोक्ष माने और गुणस्थानादि रूप जीव का व्यवहार निरूपण जाने। अब, तत्त्वज्ञान का कारण तो अध्यात्म-रूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं। वहां कोई जीव इन शास्त्रों का अभ्यास करता है, परन्तु जहां जैसा लिखा है वैसा स्वयं निर्णय करके अपने को अपने रूप, पर को पररूप तथा आस्रवादिरूप श्रद्धा नहीं करता इसलिये यथार्थ निर्णय करके "मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसा स्वयं को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्य द्रव्यमय अनुभव करना कार्यकारी है।

७. सम्यग्ज्ञान के भेद—यह भेद पाच हैं-(१) मति (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मन पर्यय और (५) केवलज्ञान। यह पाच ज्ञानगुण की सम्यक् पर्यायें हैं। यह ज्ञान की हीनाधिकतारूप

---

१ बृ० द्रव्यसग्रह मे यहां गाथा ४२ की टीका, पृ० १६६ में यह बात इस अर्थ मे कही है (रायचद्र शास्त्रमाला)

२. देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली वाला, पृ० ३४७।

भेद (सामान्य) आत्मस्वभाव का भेदन नहीं करते प्रत्युत उसका अभिनन्दन करते हैं अभेदरूप घोषित करते हैं। इसलिये ऐसे एक अभेद आत्मस्वभाव का आलंबन करना चाहिये। इसीसे निजपद[1] की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है, अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है, कर्म (भावकर्म और द्रव्यकर्म) जोरावर नहीं हो सकता, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, कर्म पुन. आस्रवित नहीं होता, पुनः बन्धता नहीं है, पूर्व में बन्धा हुआ कर्म झर जाता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है।

दर्शनोपयोग का लक्षण

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समये ॥ ४३ ॥
यत् सामान्यं ग्रहणं भावाना नैव कृत्वा आकारम् ।
अविशेषयित्वा अर्थान् दर्शनं इति भण्यते समये ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थः—(अर्थात्) पदार्थों के (नैव कृत्वा आकारं) आकार को ग्रहण न करके (अविशेषयित्वा) विशेषता न करके (यत) जो (भावानां सामान्य ग्रहण) पदार्थों का सामान्य ग्रहण करना सो (दर्शनं) दर्शन[2] है (इति) ऐसा (समये) शास्त्र में (भण्यते) कहा है।

---

१ समयसार गाथा २०४ पृष्ठ ३१३-३१४ परमात्मप्रकाश अ० १, गाथा १०५, पृष्ठ १०९, गाथा १०७, पृष्ठ ११० ।

२ "विषयविषयिसन्निपाते दर्शनम् ।" अर्थः—पदार्थ और इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर दर्शन होता है। (इस दर्शनगुण को सामान्य चेतना कहा जाता है।)

भावार्थ—पदार्थों का सामान्य ग्रहण करना सो उसे दर्शन कहते हैं। उसमें "यह काला है, यह घड़ा है, यह वह है" इत्यादि किसी भी प्रकार की विशेषता पैदा नहीं होती, अथवा आत्मा के उपयोग का पदार्थ की ओर झुकना सो दर्शन है। (ज्ञान होने से पूर्व सामान्य प्रतिभासरूप चेतना के व्यापार को दर्शन उपयोग कहते हैं।)

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति होनेमें नियम

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा ।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ॥ ४४ ॥
दर्शनपूर्व्वं ज्ञानं छद्मस्थानाम् न द्वौ उपयोगौ ।
युगपत् यस्मात् केवलिनाथे युगपत् तु तौ द्वौ अपि ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(छद्मस्थानाम्) अल्प ज्ञानियों को (दर्शनपूर्वं) दर्शनपूर्वक (ज्ञान) ज्ञान होता है (यस्मात) इस कारण (द्वौ उपयोगौ) दो उपयोग (युगपत) एक साथ (न) नहीं होते (तु) परन्तु (केवलिनाथे) केवली भगवान को (तौ द्वौ अपि) दोनों उपयोग (युगपत) एक साथ होते हैं।

भावार्थ—अल्पज्ञानियों को पहले दर्शन होता है, फिर ज्ञान होता है, दो उपयोग साथ नहीं होते, किन्तु सर्वज्ञदेव को दर्शन और ज्ञान—दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

व्यवहारचारित्र का लक्षण और भेद

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणिय ॥ ४५ ॥

अशुभात विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिः च जानीहि चारित्रम् ।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ —(अशुभात) अशुभ क्रियाओं से (विनिवृत्ति) निवृत्त होना (च) और (शुभे प्रवृत्ति) शुभ में प्रवृत्ति करना सो (व्यवहारनयात) व्यवहारनय से (चारित्र) चारित्र (जानीहि) जानो। और वह चारित्र (व्रतसमितिगुप्तिरूपं) व्रत, समिति और गुप्तिरूप है ऐसा (जिनभणितं) जिनेश्वर भगवान ने कहा है।

भावार्थ.—१. व्यवहारचारित्र—(१) यह गाथा सम्यग्दृष्टि के व्यवहारचारित्र की है। (मिथ्यादृष्टि के व्यवहारचारित्र नहीं होता)। चारित्रगुण की पर्याय की शुद्धि का नियम ऐसा है कि उस गुण की पर्याय चौथे गुणस्थान से क्रमश शुद्ध होती है, इसलिये चौथे से दसवें गुणस्थान के अन्त तक उस चारित्र की एक पर्याय के दो अंश होते हैं। एक वीतरागी अंश जो संवर-निर्जरारूप है और दूसरा रागांश।

यह गाथा छठवें गुणस्थान के भावलिंगी का व्यवहार-चारित्र कैसा होता है अर्थात वहां शुभ रागांश जो आस्रव बन्ध रूप शुभोपयोग है वह कैसा होता है, यह समझाती है।

(२) तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है, तो वे उपादेयरूप कैसे होंगे? तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है, इसलिये उन महाव्रतादि रूप आस्रव भावों को चारित्रपना संभवित नहीं है। (३) किन्तु सर्व कषाय रहित उदासीन भाव (वीतराग भाव) का नाम ही चारित्र है। (४) चारित्रमोह के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय के निमित्त से जो महामन्द प्रशस्त राग होता है वह तो चारित्र का मल है। उसे छूटता न जानकर

उसका त्याग नहीं करते और सावद्य योग का ही त्याग मुनि करते हैं। वे हिंसादि तीव्र कषायरूप भावों का त्याग करते हैं तथा किसी मन्द कषायरूप महाव्रतादि[1] का पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते। (५) उसे व्यवहारचारित्र कहा है, इसका कारण यह है कि व्यवहार नाम उपचार का है। महाव्रतादि[2] होते ही पुरुषार्थ बढाकर उन्हें लाँघकर वीतरागचारित्र होता है। ऐसा सम्बन्ध जानकर उन महाव्रतादिक में चारित्र का उपचार किया है, किन्तु निश्चय से तो निष्कषाय भाव ही सच्चा चारित्र है।

२ पिछली गाथा ३५ में कहे गये व्रतादि के सम्बन्ध में— संवर अधिकार में जो व्रत–समिति–गुप्ति आदि कहे हैं उन्हें निश्चय व्रत–समिति–गुप्ति आदि समझना चाहिये, अर्थात् जो निष्कषायभावरूप व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि हैं वह निश्चय चारित्र है॥ ४५ ॥

निश्चयचारित्र का लक्षण

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥ ४६ ॥
बहिरभ्यन्तरक्रियारोधः भवकारणप्रणाशार्थम् ।
ज्ञानिनः यत् जिनोक्तम् तत् परमं सम्यक्चारित्रम् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ.—(भवकारणप्रणाशार्थम्) भव के कारण का नाश

१–प्रवचनसार गाथा १५७ पृष्ठ २६९, पंचास्तिकाय गाथा १३७, पृ० २०१ ।

२–प्रवचनसार गाथा ५ तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७, पृष्ठ ३३७ ।

करने के लिये (ज्ञानिनः) ज्ञानियों को (बहिरभ्यन्तरक्रियारोध) बाह्य और अभ्यतर[1] क्रियाओं का रोकना है (त) वह (जिनोक्तम्) जिनेश्वर देव का कहा हुआ (परम) उत्कृष्ट[2] (सम्यक्चारित्रम्) सम्यक्चारित्र है।

भावार्थ—१. परम सम्यक् चारित्र—निश्चयचारित्र कहो या परम सम्यक् चारित्र कहो दोनों एक ही हैं। वे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक होते हैं, इसलिये ज्ञानियों के ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। इस सम्बन्ध मे दो गाथायें श्री प्रवचनसार मे हैं, जो यहा दी जा रही हैं—

चारित्र है वह धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है।
अरु साम्य जीव का मोहक्षोभविहीन निजपरिणाम है॥ ७॥

आगम विषे कौशल्य है, अरु मोहदृष्टि विनष्ट है।
वीतराग-चरितारूढ हैं, वे मुनि-महात्मा 'धर्म' हैं॥ ९२॥

(इन गाथाओं की टीका पढ़ना चाहिये।) आचार्य देव ९२ वीं गाथा की टीका मे कहते हैं कि जीवको स्वय को धर्म हुआ है या नहीं इसकी खबर पड सकती है, क्योंकि अपने को 'धर्म' प्रगट हुआ है ऐसा उसमे बतलाते हैं।

२. धर्म—निश्चय चारित्र मोक्ष का साक्षात् कारण है और इसलिए उसे 'धर्म' कहा है। चौथे-पांचवें-छट्ठे गुण-

---

१. शुभ और अशुभरूप वचन और काया की क्रिया को बाह्यक्रिया कहते हैं। शुभ तथा अशुभ मन के विकल्परूप क्रिया के व्यापार को अभ्यन्तर क्रिया कहा जाता है।

२. निश्चय।

स्थान मे उस–उस गुणस्थानके योग्य शुद्धिरूप धर्म होता है ॥ ४६ ॥

ध्यानाभ्यास करने की प्रेरणा

दुविहंपि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

द्विविधं अपिमोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यत् मुनिः नियमात् ।
तस्मात् प्रयत्नचित्ताः यूयं ध्यानं समभ्यसत ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ — [यत्] कारण कि [मुनि] मुनि [नियमात्] नियम से [द्विविधं अपि] दोनों प्रकार के भी [मोक्षहेतुं] मोक्ष के कारणो को [ध्यानेन] ध्यान से [प्राप्नोति] प्राप्त करते है। [तस्मात प्रयत्नचित्ता.] इसलिये उसमे प्रयत्नशील होकर [यूय] तुम [ध्यानं] ध्यान[1] का [समभ्यसत] भलीभांति अभ्यास करो।

भावार्थ —निज शुद्धात्मा में एकतारूप ध्यान करने से निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्ग प्रगट होता है, ऐसा नियम है।

मुनि–दशा के योग्य ध्यान का सामर्थ्य प्रगट करने से जीव के सातवां गुणस्थान प्राप्त होता है, और उस निर्विकल्प दशा से छूटकर जब वह छठवे गुणस्थान मे आता है

---

१. "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।"

अर्थ —उत्तम संहननवाले का एकाग्रतापूर्वक चिन्ता को रोकना सो ध्यान है। यह ध्यान अतर्मुहूर्त (दो घड़ी से कुछ कम समय तक) रहता है। अन्य क्रियाओं से चित्त को हटाकर एक ही क्रिया में रखने को एकाग्रचिन्तानिरोध कहते हैं।

तब उसे अट्ठाईस मूलगुणरूप व्यवहार मोक्षमार्ग होता है। जब तक श्रेणी माडनेका प्रचड पुरुषार्थ प्रगट न करे तब तक मुनि बारम्बार सातवें और छठवें गुणस्थान में जाते-आते हैं। इस प्रकार मुनिदशा के ध्यान का सामर्थ्य ही ऐसा होता है कि जब वे निर्विकल्प दशा में न रह सकें तब छठवें गुणस्थान के योग्य व्यवहार मोक्षमार्ग का विकल्प आता है।

जीव को चौथा गुणस्थान प्रथम प्रगट होने के काल में जो निर्विकल्प ध्यान प्रगट होता है उस ध्यान से हटकर जब अविरत सम्यग्दृष्टि सविकल्प दशा में आता है तब उसे आठ अंग[1] अर्थात् आठ गुणरूप सम्यक् आचरण (–चरण) होता है। और कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा कुतत्त्व का उसे स्वीकार नहीं होता और कुदेवादि के प्रति स्तुति, प्रशसा, वंदना, नमस्कार, महिमा, आदर इत्यादिरूप अनाचार उसके नहीं होता।

तथा वही जीव जब पांचवें गुणस्थान के योग्य ध्यान का सामर्थ्य प्रगट करता है उसे निर्विकल्प ध्यान होता है और उस ध्यान से हटकर जब सविकल्प दशा में आता है तब उसे उस भूमिका के योग्य अणुव्रतादि का आचरण (–चरण) होता है, परन्तु अव्रत के अशुभ भाव नहीं होते।

इससे ऐसा समझना चाहिये कि स्वसन्मुखतारूप ध्यान में ही ऐसा सामर्थ्य है कि जीव इस ध्यान द्वारा निश्चय और

---

१. आठ अंगों के नाम—निःशंकितत्व निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि उपगूहन अथवा उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। इसके विस्तार के लिये देखो, बृ० द्रव्य संग्रह गाथा ४१ संस्कृत टीका, समयसार गाथा २२८ से २३६ गाथा टीका और भावार्थ।

व्यवहार मोक्षमार्ग (श्रावक और मुनिकी भूमिकानुसार) प्राप्त करते हैं। वहां जितने अंश मे वीतरागभाव है उतने अंश में सच्चा मोक्षमार्ग है।

२ ध्यान का अभ्यास—इस कारण सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् भी बारम्बार स्वरूप में एकाग्र होने का पुरुषार्थ करना और उसी अभ्यास मे भलीभांति सावधान रहना आवश्यक है ॥ ४७ ॥

ध्यान में लीन होने का उपाय

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ ४८ ॥
मा मुह्यत मा रज्यत मा द्विष्यत इष्टानिष्टार्थेषु।
स्थिरं इच्छत यदि चित्तं विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै] विचित्र[1] अर्थात अनेक प्रकार के ध्यान की प्राप्ति करने के लिए [चित्तं] चित्त को [स्थिरं] स्थिर करना [इच्छत] चाहते हो तो [इष्टानिष्टार्थेषु] इष्ट[2] और अनिष्ट[3] पदार्थो में [मा मुह्यत] मोह मत करो, [मा रज्यत] राग मत करो और [मा द्विष्यत] द्वेष मत करो।

---

१. विचित्र का अर्थ 'शुभ और अशुभ विकल्प रहित तथा अनेक प्रकार के पदस्थ ध्यानादि' भी होता है।

२ पुत्र, स्त्री, धन, माला, मकानादि।

३. सर्प, शत्रु, विष, कंटकादि।

भावार्थ—संसारी जीव इष्ट पदार्थों में मोह करता है और उनमें अधिक अनुराग करता है तथा अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करता है। उत्तम ध्यान की प्राप्ति के लिये ऐसा नहीं करना चाहिए।

कोई परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है—(१) जो अपने को सुखदायी-उपकारी हो उसे इष्ट कहते हैं, तथा जो अपने को दुखदायी-अनुपकारी हो उसे अनिष्ट कहते हैं। अब, लोक में सब पदार्थ तो अपने-अपने स्वभाव के कर्ता हैं, कोई किसी को सुख-दुःखदाता या उपकारी-अनुपकारी नहीं है। मात्र यह जीव अपने परिणामों में उन्हें सुखदायी तथा उपकारी जानकर इष्टरूप मानता है अथवा दुःखदायी और अनुपकारी जानकर अनिष्टरूप मानता है। यदि पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सबको इष्टरूप ही होगा परन्तु ऐसा तो नहीं होता। मात्र यह जीव स्वयं ही कल्पना करके उसे इष्ट-अनिष्टरूप मानता है, परन्तु वह मिथ्या कल्पना है।

(२) यदि पर द्रव्य इष्ट-अनिष्ट[1] होते और वहां यह जीव रागद्वेष करता होता तो मिथ्या नाम न पाता, परन्तु वे तो इष्ट-अनिष्ट हैं नहीं, और यह जीव उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानकर रागद्वेष करता है। पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं। जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो तो स्वयं क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते और तभी सच्चा धर्म होता है।

(३) आत्मा ज्ञाता और परपदार्थ ज्ञेय हैं। वहां आत्मा अपने में अपने में एकरूप होकर अपने को जानता है, इसलिये

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ६४, १२६-३०-३१, ३३६

निश्चयनय से अपना ज्ञाता है। पर पदार्थ उसके ज्ञान का विषय है, किन्तु पर के साथ जीव एकरूप नहीं हो जाता इसलिये पर का व्यवहारनय से ज्ञाता है। इतना ज्ञाता-ज्ञेय का व्यवहार सम्बन्ध जीव का सर्व परपदार्थों के साथ है और इसीलिये आत्मा सर्व पदार्थों का ज्ञाता है।

२ मोह-राग-द्वेषः—पर पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानना सो मिथ्यात्वभावरूप मोह है, और उनके प्रति कषायभाव होना सो राग-द्वेष है। मिथ्यात्वरूप मोह के कारण आत्मसावधानी का सर्वथा अभाव होता है। माया और लोभ यह दो कषायें तथा हास्य, रति और तीनों प्रकार के वेद—इन सब का नाम राग है, क्योंकि वहा इष्ट-बुद्धि होकर अनुराग होता है। तथा क्रोध-मान यह दो कषाय और अरति, शोक, भय जुगुप्सा—इन सबका नाम द्वेष है, क्योंकि वहा अनिष्ट बुद्धि होकर द्वेष होता है। सामान्य रूप से राग-द्वेष और मोह—इन सबका नाम मोह है, क्योंकि इन सब प्रसगों मे सर्वत्र आत्मा की असावधानी[1] होती है।

३. "विचित्तझाणप्पसिद्धीए"–गाथा मे यह पद है, इसके दो अर्थ होते हैं.— (१) एक अर्थ "विचित्र" होता है, जिसके अनुसार पिण्डस्थ-पदस्थादि नाना प्रकार के ध्यान ऐसा अर्थ निकलता है। (२) दूसरा अर्थ विगत (नष्ट) हो गया है चित्त अर्थात् मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ विकल्पों

---

१. इस सम्बन्धी वर्णन मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ? पृष्ठ ५६, अ० ३ पृ० ७३ से ८६ तथा अ० ४, पृ० १०० से १२२ तथा १२७ से १३६ तक है। यह मुमुक्षुओं को अभ्यास करने योग्य है।

का समूह जिसमें, ऐसा निर्विकल्प ध्यान–ऐसा भी होता है। यहां दोनों अर्थ लागू होते हैं।

तात्पर्य–निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न होने वाले परमानन्द एक लक्षण धारक सुखामृत–रस द्वारा उत्पन्न तथा उसमें लीन जो परम कला है उसमें हे जीवो! तुम स्थिर होओ कि जिससे मोह राग द्वेष उत्पन्न न हो ॥ ४८ ॥

ध्यान करने योग्य मन्त्र

पणतीस सोल छप्पय चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ ४९ ॥
पंचत्रिंशत् षोडश षट् पंच चत्वारि द्विकं जपत ध्यायेत।
परमेष्ठिवाचकानां अन्यत् च गुरूपदेशेन ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ–(परमेष्ठिवाचकानां) परमेष्ठि[1] वाचक (पंचत्रिंशत) पैंतीस, (षोडश) सोलह, (षट्) छह, (पंच) पांच (चत्वारि) चार, (द्विक) दो, (एक) एक (च) और (गुरूपदेशेन) गुरु के उपदेश द्वारा (अन्यत्) अन्य मंत्र, (च) भी, (जपत) जपो (ध्यायेत) और उनका ध्यान करो।

भावार्थ–ध्यान करते समय परमेष्ठिवाचक मन्त्रों[2] का अथवा

---

१. अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु—यह पांच परमेष्ठी कहलाते हैं।

२. ध्यान करने योग्य मन्त्र—

पैंतीस अक्षरों का मन्त्र—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ (सर्वपद)

अथवा गुरुओं की आज्ञा से सिद्धचक्र आदि मन्त्रों का जाप करना चाहिए। जीव जब स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता तब उसे ऐसा व्यवहारध्यान होता है ॥ ४६ ॥

अरिहंत परमेष्ठी का लक्षण

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥ ५० ॥
नष्टचतुर्घातिकर्मा दर्शनसुखज्ञानवीर्यमयः।
शुभदेहस्थः आत्मा शुद्धः अर्हन् विचिन्तनीयः ॥ ५० ॥

सोलह अक्षरों का मन्त्र—अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू।
(नाम पद)
छह अक्षरों का मन्त्र—अरिहंत सिद्ध, अरहंत सिद्ध, अरहंत सिसा।
ॐ नम सिद्धेभ्य नमोऽर्हत्सिद्धेभ्य।
पांच अक्षरों का मन्त्र:-असिआउसा (प्रथम अक्षर)।
चार अक्षरों का मंत्र—अरहंत, असिसाहू, अरिहंत।
दो अक्षरों का मन्त्र—सिद्ध, अ, आ, ओं ह्रीं।
एक अक्षर का मन्त्र—अ, ओम्।
ओम् किस प्रकार बनता है:—

अरहंता असरीरा आयरिया तह उवझाया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओमकारो पंचपरमेट्ठी ॥

अर्थ—पांच परमेष्ठियों के प्रथम अक्षर की संधि करने से ओम् बनता है, जो नीचे बतलाया गया है—

१—अरहन्त—अ   २—अशरीर (सिद्ध)—अ, आ
३—आचार्य—आ, आ   ४—उपाध्याय—उ, ओ
५—मुनि (सर्व साधु)—म् = ओम्

अन्वयार्थ—(नष्टचतुर्घातिकर्म्मा) जिनने चार प्रकार के घाति कर्मों का नाश किया है, (दर्शनसुखज्ञानवीर्यमय) जो अनंत दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य सहित है, (शुभदेहस्थ) सप्त धातु रहित परम औदारिक शरीर में स्थित हैं (शुद्ध) अठारह दोष रहित और शुद्ध ज्ञानादि सहित है (अर्हन् आत्मा) वे आत्मा अर्हंत परमात्मा हैं और वे (विचिन्तनीय.) ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय—यह चार घातिया कर्म हैं। इन्हें नष्ट करने वाले अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनत सुख और अनत वीर्य अर्थात् अनंत चतुष्टय को प्राप्त, निश्चय से अशरीर किन्तु व्यवहार से रक्त मासादि सप्त धातुओं से रहित उत्तम परम औदारिक देह में स्थित और क्षुधा, तृषा जन्म, जरा आदि अठारह दोष रहित देव ही अरिहंत परमेष्ठी हैं ॥ ५० ॥

सिद्ध परमेष्ठी का लक्षण

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥ ५१ ॥

---

[1]क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् ।
जरा रुजा च मृत्युश्च खेद स्वेदो मदोऽरति. ॥
विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृता. ।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्त सोऽयमाप्तो निरंजन ॥

अर्थ.—क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, खेद, पसीना, मद, अरति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और शोक इन अठारह दोषों से रहित आप्तदेव अथवा अरिहंत कहलाते हैं।

नष्टाष्टकर्म्मदेहः लोकालोकस्य ज्ञायकः दृष्टा ।
पुरुषाकारः आत्मा सिद्धः ध्यायेत लोकशिखरस्थः ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ —(नष्टाष्टकर्म्मदेह) जिन्होंने ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूप शरीर का नाश किया है (लोकालोकस्य) लोक और अलोक के (ज्ञायक दृष्टा) जानने तथा देखने वाले हैं, (पुरुषाकार) देहरहित किन्तु पुरुष के आकार में (लोकशिखरस्थ) लोक के अग्रभाग में स्थित हैं वे (आत्मा सिद्ध) आत्मा सिद्ध परमात्मा हैं, उनका (ध्यायेत) ध्यान करना चाहिए ।

भावार्थ —चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय) तथा चार अघातिया (वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र)-इन आठ कर्मों का नाश करने वाले तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थों को दर्पण की भाँति देखने जानने वाले, अन्तिम मनुष्य शरीर के आकार से किंचित् न्यून, पुरुषाकारवत आत्मा के प्रदेशों का आकार धारण करने वाले और लोक के अग्रभाग में स्थित परमेष्ठी हैं । उनका सदा ध्यान करना चाहिये ॥ ५१ ॥

आचार्य परमेष्ठी का लक्षण

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥ ५२ ॥
दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतपआचारे ।
आत्मानं पर च युनक्ति सः आचार्यः मुनिः ध्येयः ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ —(दर्शनज्ञानप्रधाने) दर्शनाचार और ज्ञानाचार जिनमें मुख्यरूप से विद्यमान हैं ऐसे (वीर्यचारित्रवरतपआचारे)

वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार मे–इन पाच आचारों में (मुनि) जो मुनि (आत्मानं) अपने को (च) तथा (पर) पर को (युनक्ति) युक्त करते हैं (स आचार्य.) वे आचार्य परमेष्ठी (ध्येय·) ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ—जो साधु दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र और तप इन पाच आचारों मे स्वयं लीन रहते हैं, उनका आचरण करते हैं और दूसरों से भी आचरण कराते हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं, उनका सदा ध्यान करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का आचरण सो दर्शनाचार, सम्यग्ज्ञान का आचरण सो ज्ञानाचार, वीतराग चारित्रभाव का आचरण सो चारित्राचार, तप का आचरण सो तपाचार और इन चारों आचारों का पालन करने मे अपनी शक्ति को नहीं छिपाना सो वीर्याचार है ॥ ५२ ॥

उपाध्याय परमेष्ठी का लक्षण

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥ ५३ ॥
यः रत्नत्रययुक्तः नित्यं धर्मोपदेशने निरतः ।
सः उपाध्यायः आत्मा यतिवरवृषभः नमः तस्मै । ५३ ॥

अन्वयार्थ —(य·) जो (रत्नत्रययुक्त·) रत्नत्रय सहित (नित्यं) सदा (धर्मोपदेशने) धर्मोपदेश करने मे (निरत·) लीन रहते हैं (स आत्मा) वह आत्मा (यतिवरवृषभ) यतियों में श्रेष्ठ (उपाध्याय) उपाध्याय हैं, (तस्मै) उन्हें (नमः) नमस्कार हो।

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र सहित हैं और सदा धर्म का उपदेश देने में तत्पर हैं, मुनीश्वरों मे प्रधान हैं, उन उपाध्याय परमेष्ठी को द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो ॥ ५३ ॥

साधु परमेष्ठीका लक्षण

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥ ५४ ॥
दर्शनज्ञानसमग्रं मार्गं मोक्षस्य यः हि चारित्रम् ।
साधयति नित्यशुद्धं साधुः सः मुनिः नमः तस्मै ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(यः मुनि) जो मुनि (दर्शनज्ञानसमग्रं) दर्शन और ज्ञान सहित (मोक्षस्य) मोक्ष के (मार्गं) मार्गरूप (नित्यं) सदा (शुद्धं) शुद्ध (चारित्रं) चारित्र को (साधयति) साधते हैं (स साधुः) वे साधु परमेष्ठी हैं, (नम तस्मै) उन्हें नमस्कार हो।

भावार्थ—जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को साधते हैं अर्थात् रत्नत्रय को धारण करते हैं उन्हे साधु परमेष्ठी कहते हैं। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है ॥ ५४ ॥

[यह पंचपरमेष्ठी का स्वरूप 'नियमसार' गाथा ७१ से ७५ मे तथा 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' अध्याय १ मे दिया है, वह जिज्ञासुओं को पढ़ लेना चाहिये। पंचपरमेष्ठी व्यवहार ध्यान का विषय हैं इसलिये उनका ध्यान भावलिंगी मुनि का व्यवहार-चारित्र है। इससे सम्बन्धित गाथा ४५ पहले आ चुकी है—उसे भी पढ़ लें।]

ध्येय, ध्याता और ध्यान का लक्षण

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं ॥५५॥

यत् किञ्चित् अपि चिन्तयन् निरीहवृत्तिः भवति यदा साधुः ।
लब्ध्वा च एकत्वं तदा आहुः तत् तस्य निश्चय ध्यानम् ॥

अन्वयार्थ—(च) और (यदा) जब (साधुः) साधु (एकत्वं लब्ध्वा) एकाग्रता प्राप्त करके (यत किंचित अपि) जो कुछ भी (चिन्तयन्) चिंतवन करता हुआ (निरीहवृत्तिः) इच्छा रहित (भवति) होता है (तदा) तब (तत्) उस कारण से (तस्य निश्चय) उसे निश्चय (ध्यानं) ध्यान (आहुः) कहते हैं।

भावार्थ—१. यत्किंचित अपि चिंतयन्—निश्चय ध्यान प्रगट होने से पूर्व जीव को अंतर्जल्परूप-व्यवहार धर्मध्यान होता है तब जो निर्विकल्प ध्यान प्रगट होता है वह निश्चय अर्थात सच्चा ध्यान है। उसके द्वारा जीव को संवर-निर्जरा होती है। कहा है कि—

गुप्तेन्द्रियमनो ध्याता, ध्येयं वस्तु यथास्थितम् ।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं, फलं संवरनिर्जरो ॥

अर्थ—ध्याता = इन्द्रिय और मनगुप्ति प्राप्त करने वाला ध्याता है। वस्तु यथास्थितम अर्थात निज ज्ञायक भाव ध्येय है और उसमें एकाग्रता सो ध्यान है। उसका फल संवर-निर्जरा है।

२. निश्चय ध्यान का स्वरूप—ध्यान का अभ्यास करते

करते जब समस्त शुभाशुभ विकल्प शांत हो जायें तब शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन निर्विकार चिदानन्दरूप निज आत्मा में होने वाली एकाग्रता सो निश्चय ध्यान है ॥ ५५ ॥

परम ध्यान का लक्षण

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥ ५६ ॥

मा चेष्टत मा जल्पत मा चिन्तयत किम् अपि येन भवति स्थिरः
आत्मा आत्मनि रतः इदं एव परं ध्यानं भवति ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ —हे भव्य पुरुषो ! (किम् अपि) कुछ भी (मा चेष्टत) चेष्टा न करो, (मा जल्पत) बोलो नहीं (मा चिन्तयत) चिंतवन न करो, (येन) जिससे, (आत्मा) आत्मा (आत्मनि) आत्मा में, (रतः) लीन होकर, (स्थिर) स्थिर, (भवति) होता है । (इदं एव) यही (परं) उत्कृष्ट (ध्यानं) ध्यान (भवति) है ।

भावार्थ—१. निश्चयधर्मध्यान, निश्चयशुक्लध्यान—यह दोनों[1] ध्यान स्वात्माश्रित होते हैं। आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है। ध्यान-ध्येयादि सुपत अर्थात् ध्यान-ध्येयादि के विकल्प वाला शुभ तप भी कल्पनामात्र रम्य है—ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष सहज परमानन्द रूपी अमृत के प्रवाह रूप एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं। अपने आत्मा में स्थिरता द्वारा लीन होने से यह परम ध्यान प्रगट होता है। वहां किसी भी चेष्टा का, बोलने का या चिंतवन का

---

१ नियमसार कलश १२३, गाथा ९२–९३ पृष्ठ १७५–१७८ । समयसार गाथा ३०६ ।

बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं होता अर्थात स्वात्मा के आश्रय से ही ऐसी निर्विकल्प दशा प्रगट होती है। पूर्वकाल मे व्यवहार ध्यान था इसलिये वह प्रगट हुआ ऐसा नहीं है किन्तु अपना पुरुषार्थ बढाकर उस विकल्प का अभाव करके आत्मा अपने आश्रय से (पर से और व्यवहार से परम निरपेक्ष) शुद्ध चारित्ररूप परम दशा प्रगट करता है, ऐसा समझना चाहिए। यह निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान अमृतकुम्भस्वरूप है, व्यवहार ध्यान विषकुम्भ समान है।

२. "मा चेट्टत, मा जल्पत, मा चिन्तयत" का अर्थ.— जीव की ऐसी दशा होने पर शुभाशुभ चेष्टारूप काय का व्यापार तथा शुभाशुभ रूप अतरंग-बहिरंग रूप वचन का व्यापार तथा जड़ मन का वैसा व्यापार उस उस पुद्गल के उपादानकारण से नहीं होता, इसलिये वह रुक जाता है, ऐसा कहा जाता है। जीव की ध्यानरूप पर्याय तो वहा निमित्तमात्र है। जीव के शुभाशुभ विकल्पोंका व्यय हो जाता है और ध्यानरूप पर्याय का उत्पाद होता है।

३. उसका फल सुख है'—सहज शुद्ध[1] ज्ञान-दर्शनस्वभावी परमात्मतत्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान और अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रय है। उस स्वरूप परम ध्यान से सर्व प्रदेशों मे आह्लाद-जनक सुखास्वादरूप परिणति होती है वह ध्यान है, और उस का फल आत्मिक सुख है॥ ५६॥

---

१. बृ० द्रव्य संग्रह, पृष्ठ २७४-२७५। वहाँ जीव की इस दशा के भिन्न-भिन्न ६५ नाम दिये हैं।

तप, व्रत और श्रुत में लीन होने के लिये प्रेरणा

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ॥५७॥

तपःश्रुतव्रतवान् चेता ध्यानरथधुरन्धरः भवति यस्मात् ।
तस्मात् तत्त्रिकनिरताः तल्लब्ध्यै सदा भवत ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थः—(यस्मात्) क्योंकि (तपःश्रुतव्रतवान्) तप, श्रुत और व्रत को धारण करने वाला (चेता) आत्मा (ध्यानरथधुरंधरः) ध्यान रूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला (भवति) होता है, (तस्मात्) इसलिए (तल्लब्ध्यै) उस परम ध्यान की प्राप्ति के लिये (सदा) निरन्तर (तत्त्रिकनिरताः) तप, श्रुत और व्रत—इन तीनों में लीन (भवत) होओ ।

भावार्थ—१. तप—(१) मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) में "तपसा निर्जरा च" कहा है । अर्थात् तप से निर्जरा भी होती है । शुभ-अशुभ इच्छाएँ मिटने पर उपयोग शुद्ध होता है, इस लिए तप द्वारा निर्जरा[1] कही है ।

(२) तप का अर्थ मुनित्व होता है, इसीलिए तीर्थंकर देवों के दीक्षाकल्याणक को "तपकल्याणक" कहा जाता है ।

(३) आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्वरूप[2] विश्रान्त निस्तरंग

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७, पृष्ठ ३३८ दिल्ली ।
२. प्रवचनसार गाथा १४, पृष्ठ १९ गुज०, संस्कृत टीका जयसेनाचार्य ।
३. नियमसार गाथा ११८, पृष्ठ २३८ ।

चैतन्य का देदीप्यमान होना सो तप है। अपने अखंडित प्रतापरूप स्वशुद्धात्मा के प्रतपन द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना सो तप है। प्रसिद्ध शुद्ध कारण परम तत्त्व में सदा अंतर्मुख रहकर-लीन रहकर प्रतापवंत वर्तना सो तप है। ऐसा शुद्ध भावरूप परिणमन सो निश्चय तप है। और तप सम्बन्धी शुभ विकल्प सो ज्ञानी का व्यवहार तप है।

२. द्रव्य श्रुत—(१) वास्तव में आगम के विना पदार्थों[1] का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगम ही, जिसके त्रिकाल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप तीन लक्षण वर्तते हैं ऐसे सकल पदार्थसमूह के यथातथ्यज्ञान द्वारा, सुस्थित अन्तरंग से गंभीर है। मुमुक्षु को भगवान अरिहंत सर्वज्ञ से स्वयं जानकर कहे गये शब्दब्रह्म में कि जिसका अनेकांतरूपी लक्षण प्रगट है उसमें निष्णात होना चाहिये, क्योंकि पदार्थों के निश्चय विना ध्यानरूप एकाग्रता सिद्ध नहीं होती।

(२) टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभाव ऐसा जो निज परमात्मपदार्थ उससे प्रारम्भ करके सर्व पदार्थ सम्बन्धी निर्णय आगम से होता है। जीवभेद-कर्मभेद प्रतिपादक आगम-अभ्यास के उपरान्त आगम पदों में सारभूत चिदानन्द एक परमतत्त्व है, उसके प्रकाशक अध्यात्म परमागमों द्वारा पदार्थ की पहिचान हो सकती है, इसलिए आगम-परमागम का अभ्यास करना आवश्यक है।

(३) जिसमें अनेकांत[2] रूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का

---

१. प्रवचनसार गाथा २३२, पृ० ३७९ तथा श्री जयसेनाचार्य की टीका पृष्ठ ३२० ।
२. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३२८ ।

निरूपण है तथा जो सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दर्शाती है वह जैन शास्त्रों की उत्कृष्टता है।

(४) तीर्थंकर परमदेव की वाणी जो पूर्वापर दोष रहित तथा शुद्ध है उसे आगम[1] कहा है। भगवान अरिहंत[2] के मुख-कमल से निकली हुई, सकल जीवों को श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी सुन्दर आनन्द झरती अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि और उस पर से गणधरदेवों ने तथा उनका अनुसरण करके आचार्यादि ज्ञानियों ने जिन वीतरागी शास्त्रों की रचना की वे आगम हैं।

(५) जो आगम मोक्षमार्ग का प्रकाश[3] करे वही आगम पढने सुनने योग्य है, क्योंकि जीव ससार में नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर ले तो उस मोक्षमार्ग मे गमन करके उन दुःखों से मुक्त हो जाये। अब, मोक्षमार्ग तो एक वीतरागभाव है, इसलिये जिन शास्त्रों मे किसी प्रकार राग-द्वेष-मोह का निषेध करके, वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो वही शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य हैं।

(६) इस जीव का मुख्य कर्त्तव्य आगमज्ञान[4] है। वह होने पर तत्त्वों की श्रद्धा होती है, तत्त्वश्रद्धा होने पर संयम होता है। आगम से आत्मज्ञान की भी प्राप्ति होती है जिससे सहज मोक्ष प्राप्त होता है। धर्म के अनेक अंग हैं उनमे भी

---

१. नियमसार गाथा ८।

२. नियमसार गाथा १०८।

३ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २१

४. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३०

एक ध्यान के अतिरिक्त इससे ऊँचा धर्म का एक भी अंग नहीं है, ऐसा जानकर हर प्रकार से आगम का अभ्यास करना योग्य है।

(७) जिसने प्रथम भूमिका में गमन[1] किया है ऐसे जीव को, सर्वज्ञ द्वारा स्वयं जानकर कहे हुए और सर्व प्रकार से अबाधित ऐसे द्रव्यश्रुत प्रमाण को प्राप्त करके उसमें क्रीड़ा करना चाहिए। उसके संस्कार से विशेष प्रकार की संवेदन (ज्ञान) शक्तिरूप सम्पदा प्रगट करनी चाहिए। आनन्द की फुहार प्रगट करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा उससे अविरुद्ध अन्य प्रमाण समूह द्वारा तत्त्वतः समस्त वस्तुमात्र को जानना चाहिए कि जिसके अतत्त्व अभिनिवेश के संस्कार करने वाला मोह क्षय को प्राप्त होता ही है, इसलिए मोह का क्षय करने में परम शब्द-ब्रह्म की उपासना का भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये हुए परिणाम से सम्यक् प्रकार से अभ्यास करना चाहिए। यह एक उपाय है।

३. द्रव्यश्रुत के सार पद—भावश्रुतज्ञान ध्यानः—(१) जिस प्रकार बांस के ऊपर बने हुए विचित्र चित्रों[2] को धो डालनेसे बांस शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी जब गुरु के निकट शुद्धात्मस्वरूप के प्रकाशक परमागम को जानता है—'एकोऽहं निर्मम' शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर। बाह्या संयोगजा भावा, यत्तः सर्वेऽपि सर्वदा।" इत्यादि प्रकार से जानता है तथा देह और आत्मा के बीच के अत्यंत भेद को जल और अग्नि की भांति भिन्न लक्षण द्वारा लक्षित होने से जानता है—इस प्रकार

१. प्रवचनसार गाथा ८६ पृष्ठ १२८।

२. पंचास्तिकाय गाथा २०, पृष्ठ ४४ (जयसेनाचार्य कृत)

अनुमान ज्ञान को जानता है तथा वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान को जानता है, तब ऐसे आगमज्ञान–अनुमानज्ञान–स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान द्वारा (यह जीव) शुद्ध होता है।

(२) एगो मे सस्सदो[1] अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

ऐसी एकत्व भावना द्वारा स्वजन–परजनादि के प्रति जीव निर्मोहपना प्राप्त करता है।

(३) वीतराग–सर्वज्ञ प्रणीतशास्त्र[2] द्वारा "एको मे सस्सदो अप्पा" इत्यादि परमात्मोपदेशक श्रुतज्ञान द्वारा प्रथम आत्मा को जानता है, फिर विशिष्ट अभ्यास द्वारा परम समाधि-काल में रागादि विकल्परहित आत्मा का अनुभव करता है।

(४) अपध्यान[3] को छोड़कर.—

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्ति वट्ठिदो।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइ वोसरे॥ ९९॥ (नियमसार)

अर्थः—मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थिर रहता हूँ। आत्मा मेरा आलम्बन है और शेष को मैं छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥ १००॥

---

१. नियमसार गाथा १०२। अर्थ—ज्ञान-दर्शन लक्षणवान शाश्वत एक आत्मा मेरा है, अन्य सर्व भाव मुझ से बाह्य हैं।

२. प्रवचनसार गाथा ८६, पृ० १०८ (जयसेनाचार्य कृत) यहाँ भी नियमसार गाथा १०२ आधाररूप है।

३. वृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ५७, टीका पृ० २१३।

अर्थः—सचमुच मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में तथा चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में तथा योग (शुद्धोपयोग) में आत्मा है।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोगलक्खणा ॥

(अर्थ.—पहले फुटनोट नं० २ में आगया है।)

—इत्यादि सारपदों को ग्रहण करके ध्यान कर्त्तव्य है (—ऐसा समझना चाहिये) बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ५७, पृ० २१३ ।

(५) इस शास्त्र का सारपद गाथा १३ '—

१—"सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" सर्व जीव शुद्धनय से शुद्ध हैं। समयसार गाथा १०९ से ११२ मे श्री जयसेनाचार्य ने यह पद आधाररूप से लिया है।

२—सत्ता ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से पूर्वोक्त व्यंजन-पर्यायों से, सिद्ध और ससारी समस्त जीव सर्वथा व्यतिरिक्त ही हैं, "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" ऐसा वचन होने से। (नियमसार-गाथा १९, टीका पृ० ४६)

(६) शुद्धनय के विषयभूत ज्ञायकभाव के आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है। तत्सम्बन्धी सारपदः—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥

(श्री समयसार)

(७) चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनन्दात्मेत्यहं स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्धेन निरूपितः ॥ २२ ॥

अर्थ.—मैं चिद्रूप, केवल शुद्ध आनन्दस्वरूप हूं। ऐसा

स्मरण करता हूं। मुक्ति के लिये सर्वज्ञ का उपदेश इस आधे श्लोक से निरूपित है।

४ व्रत (निश्चय-व्यवहार)—निश्चयव्रत का स्वरूप गाथा ३५ में तथा व्यवहार व्रत का स्वरूप गाथा ४५ मे आ गया है। इतना याद रखना चाहिये कि निश्चयव्रत के बिना सच्चे व्यवहार-व्रत किसी के भी नही हो सकते हैं। निश्चयव्रत रहित व्रतों को भगवानने बालव्रत कहा है।

५. परमध्यान की प्राप्ति का फल—तप, श्रुत और व्रत में लीन होने का उपदेश परम ध्यान की प्राप्ति के लिये है। अर्थात् पुरुषार्थ बढाकर, विकल्प तोड़कर स्वरूप में लीन होना चाहिये। उसका फल—(१) चार गतियों का निवारण, (२) शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धिरूप निर्वाण, (३) परतंत्रता की निवृत्ति और (४) स्वतन्त्रता की प्राप्ति है॥ ५७॥

ग्रन्थकार का अन्तिम निवेदन

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं ॥ ५८॥

द्रव्यसंग्रहं इदं मुनिनाथाः दोषसंचयच्युताः श्रुतपूर्णाः ।
शोधयन्तु तनुसूत्रधरेण नेमिचन्द्रमुनिना भणित यत् ॥ ५८॥

अन्वयार्थ—(तनुसूत्रधरेण) अल्पज्ञान के धारक (नेमिचन्द्र-मुनिना) नेमिचन्द्र मुनि ने (यत) जो (इद) यह (द्रव्यसंग्रह) द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ (भणित) कहा है, वह (दोषसंचयच्युत:) दोषों के समूह से रहित और (श्रुतपूर्णा) श्रुतज्ञान से पूर्ण ऐसे (मुनिनाथा) मुनियों के स्वामी (आचार्य) (शोधयन्तु) शुद्ध करो।

भावार्थः—रागादि तथा संशय आदि दोष रहित द्रव्यश्रुत[1] और भावश्रुत[2] के ज्ञाता मुनीश्वर, अल्पज्ञानी नेमिचन्द्र मुनि द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह का संशोधन करें ॥ ५८ ॥



१. रागद्वेष रहित जीवादि छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थों का प्रतिपादक वर्ण-पद-वाक्यरूप द्रव्य-आगम सो द्रव्यश्रुत है ।

२. संशय, विमोह और विभ्रमरहित शुद्ध आत्मा का सम्यग्ज्ञान सो भावश्रुत है ।

अर्थ-संग्रह

अघातिकर्म:—जो ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य आदि जीव के स्वभाव के घात में निमित्त नहीं है, किन्तु अव्याबाध, अगुरुलघु आदि प्रतिजीवी गुणों के घात में निमित्त है उसे अघातिकर्म कहते हैं। इनके नाम—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र हैं। (उनके निमित्त से जीव को बाह्य सामग्री का संबंध होता है।)

अधिकार:—प्रकरण, परिच्छेद, अध्याय।

अचक्षुदर्शन:—नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों तथा मनके सम्बन्ध से होने वाले मतिज्ञान से पूर्व होने वाले सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं।

अजीव:—सुख-दुःख का ज्ञान, हितका उद्यम और अहित का भय जिसे सदा (कभी भी) नहीं होते उसे श्रमण अजीव कहते हैं। (अजीव द्रव्य के पांच प्रकार हैं—पुद्गल परमाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालाणु।)

(पंचास्तिकाय गाथा १२५)

अणु:—सर्व स्कंधों के अन्तिम भाग को परमाणु जानो। वह अविभागी, एक, शाश्वत, मूर्त रूप से उत्पन्न होने वाला तथा अशब्द है। मूर्तत्व (-रूपित्व) के कारणभूत स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के परमाणु से कथनमात्र द्वारा ही भेद किया जाता है। जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार धातुओं

का कारण है उसे परमाणु जानो कि जो परिणाम गुण वाला है और स्वयं अशब्द है । (पंचास्तिकाय गाथा ७७-७८)

अधर्मद्रव्यः—स्वयं गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त पुद्गल और जीवों को स्थिर रहने में सहकारीकारण अधर्मद्रव्य है, जैसे—पथिक को छाया ।

अनुप्रेक्षाः—जैसा अपना और शरीरादि का स्वभाव है वैसा जानकर भ्रम छोड़ना, शरीरादि को भला जानकर राग न करना और बुरा जानकर द्वेष न करनाः—ऐसी सची उदासीनता के हेतु नित्य ज्ञानानंदमय निजात्मतत्त्व के लक्ष से अनित्यत्व आदि का यथार्थ चिन्तवन करना । उनमें जितनी वीतरागता की वृद्धि होती है उतने अंश में संवरनिर्जरा है और राग रहे वह बन्ध का कारण है । यह अनुप्रेक्षा सम्यग्दृष्टि के ही होती है । (मोक्षशास्त्र अ० ६, सूत्र-७)

अनुभागबंधः—ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के तीव्र-मन्द रसविशेष को अनुभागबन्ध कहते हैं ।

अभ्यंतरक्रियारोधः—शुद्धात्म अनुभव के बल द्वारा स्थिरतानुसार शुभ-अशुभ मनके विकल्परूप क्रिया के व्यापार का रोध होना ।

अमनस्कः—मन रहित जीव, असंज्ञी । जो हित मे वर्तने की अथवा अहित से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है वह संज्ञी है, और जो हित-अहित की शिक्षा, क्रिया आदि को ग्रहण नहीं करते वे असंज्ञी होते हैं । एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी ही होते हैं । पचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी

और असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। शेष मनुष्य, देव और नारकी जीव संज्ञी ही होते हैं। (केवली को अमनस्क कहा जाता है, वह अन्य प्रकार से है।)

अमूर्तिकः—(अरूपी) जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण (रंग) न हो।

अरहंत परमेष्ठीः—भाव और द्रव्यरूप ज्ञानावरणादि चार घाति कर्मों का नाश करके, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय अथवा नव केवललब्धि को धारण करने वाले, क्षुधादि अठारह दोष रहित श्री जिनेन्द्र भगवान, अरिहन्त परमात्मा हैं, जो देह सहित होने से सकल परमात्मा कहे जाते हैं।

अलोकाकाशः—जिसमें जीवादि पांच द्रव्य सदा विद्यमान हैं वह लोकाकाश है और जिसमें जीवादि पांच द्रव्य नहीं हैं, जो केवल आकाशद्रव्य है ऐसे आकाश के भाग को अलोकाकाश कहते हैं। लोकाकाश के क्षेत्र से वह सब ओर अनन्तगुने क्षेत्ररूप है।

अवधिदर्शनः—अवधिज्ञान से पूर्व होने वाला सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन।

अविपाक निर्जराः—आत्मा के शुद्ध भाव द्वारा स्थिति पूर्ण होने से पूर्व कर्मों का खिरना।

अस्तिकायः—जिनके अस्तित्व और काय (बहुप्रदेशी) पना है ऐसे द्रव्य। (इनके नाम हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश।)

आकाशः—जीव, पुद्गलादि समस्त द्रव्यों को अवकाश देने वाला

द्रव्य जो अनंतप्रदेशी, अखंड और क्षेत्र से सर्वव्यापक है वह अजीव (अचेत) द्रव्य है।

आचार्य परमेष्ठी:—जो निश्चय सम्यग्दर्शनादि सहित हैं, उपरांत विरागी बनकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके अंतरंग मे तो वे शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, परद्रव्य मे अहंबुद्धि धारण नहीं करते. अपने ज्ञानादि स्वभावों को ही अपना मानते हैं. परभावों में ममत्व नहीं करते. किसी को इष्ट–अनिष्ट मानकर उसमें राग द्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभ उपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा है,—ऐसी अंतरंग दशा होने से बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं। अट्ठाईस मूलगुणों का जो अखंडित पालन करते हैं। उत्तम क्षमादि दस धर्म, बारह प्रकार के तप, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार यह पांच आचार, छह आवश्यक (सामायिक, चौवीस तीर्थंकर अथवा पंच परमेष्ठी की स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग), तीन गुप्ति (मन, वचन, काय गुप्ति) इस प्रकार छत्तीस गुणों का स्वयं पालन करते हैं और अन्य भव्य जीवों को पालन कराते हैं—वे आचार्य हैं, जो मुनि संघ के अधिपति होते हैं।

आतप:—सूर्य और सूर्यकान्तमणि में रहने वाला विशेष गुण।

आयुकर्म:—जिसके निमित्त से अपनी स्थिति तक प्राप्त हुआ शरीर का सम्बन्ध (जीव के) छूट नहीं सकता उस कर्म को आयुकर्म कहा जाता है। आयु चार प्रकार की है—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक।

आस्रवः – आत्मा की मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा योगरूप मलिन अवस्था भावास्रव है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप होने योग्य कार्मणवर्गणा का आना द्रव्यास्रव है।

इन्द्रियः—आत्मा के अस्तित्व को बतलाने वाली और परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त।

उत्पादः—द्रव्य में नवीन पर्याय का प्रगट होना।

उद्योतः—चन्द्र, चन्द्रकान्तमणि और खद्योत (जुगनू) आदि का प्रकाश।

उपयोगः—ज्ञान और दर्शनगुण का व्यापार अथवा चारित्र की अपेक्षा से शुभ-अशुभ और शुद्ध ऐसे आचरण के अर्थ में चारित्रगुण की क्रिया को उपयोग कहा जाता है।

उपाध्याय परमेष्ठी—भी मुनि के अट्ठाईस मूलगुण तथा निश्चय सम्यग्दर्शनादि सहित हैं, बाह्य मे सौम्यमुद्राधारी होते हैं। ऐसे उपाध्याय पच्चीस गुण, ग्यारह अंग, चौदह पूर्व को स्वयं पढ़ते हैं और निकट रहने वाले मुनियों को शास्त्रों का अभ्यास कराते हैं। (वे मुनियों में शिक्षक-अध्यापक होते हैं।)

ओम् (ॐ):–इसके अनेक अर्थ होते हैं। उनमें (१) भावरूप ओम् 'शुद्धात्मा' है और उसका वाचक शब्द "जिनेश्वर की दिव्य वाणी" है। (२) अरिहंत आदि पांच परमेष्ठी के प्रथम अक्षरों से बना हुआ शब्द जिससे पांच परमेष्ठी का लक्ष हो सकता है।

कर्त्ता:—(१) शुद्ध निश्चयनय से रागादि रहित अपने शुद्ध परिणाम का अर्थात् शुद्ध स्वभाव का कर्त्ता।

(२) निश्चय (अशुद्ध निश्चय) नयसे रागादि अशुद्ध चेतन भावों का कर्त्ता)

(३) व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का बन्ध करने वाला।

कषाय:—जिससे (कष्=संसार रूप, दुःख, आय=प्राप्ति) संसार की वृद्धि हो, आत्मा के कलुषित परिणाम, जैसे कि—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा मोह, राग, द्वेषादि।

काय:—अनेक प्रदेशों का समूह।

काल द्रव्य:—अपनी-अपनी अवस्थारूप से स्वयं परिणमित जीवादि द्रव्यों को परिणमन में निमित्तरूप जो द्रव्य है उसे काल द्रव्य कहते हैं। जैसे—कुम्हार के चाक के घूमने में लोहे का कीला।

केवलदर्शन:—केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन को केवलदर्शन कहते हैं।

केवलज्ञान—जो तीनलोक और तीनकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ एक समय मात्र में स्पष्ट जाने ऐसा सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान।

केवलिनाथ—केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के धारक केवली भगवान।

गुणस्थान—मोह-योग के सद्भाव या असद्भाव से आत्मा के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग आदि की होने वाली अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

गुप्तिः—मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण (अखंड अद्वैत परम-चिद्रूप मे सम्यक्रूप से अवस्थित रहने पर मन, वचन, काय के ओर की प्रवृत्ति का रुक जाना सो गुप्ति है।

घातिकर्मः—आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख (सम्यक्त्व, चारित्र) और वीर्यगुण के विभाव परिणमन मे निमित्तरूप द्रव्यकर्म।

चक्षुदर्शनः—नेत्र के सम्बन्ध से होने वाले मतिज्ञान से पूर्व सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को चक्षुदर्शन कहते हैं।

चैतन्यः—जिसमें ज्ञान तथा दर्शन उपयोग विद्यमान हैं।

छद्मस्थः—क्षायोपशमिक (मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय) ज्ञानधारी संसारी जीव।

छायाः—धूप मे मनुष्यादि की परछाई अथवा दर्पण मे चेहरे का प्रतिबिम्ब।

जिनः—मिथ्यात्व और रागादिक को जीतने वाले (असयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनि को जिन कहा जा सकता है।)

जिनवरः—जो जिनों मे श्रेष्ठ हों। श्री गणधरदेव भी जिनवर कहलाते हैं।

जिनवर वृषभः—जिनवरों मे भी जो श्रेष्ठ होते हैं। वे प्रत्येक तीर्थंकर भगवान "जिनवर वृषभ" (भाव अपेक्षा से)

कहलाते हैं।

जीवः—जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शन हो वह जीव है।

जीवसमासः—जिन चौदह धर्मो के द्वारा अनेक प्रकार के जीव के भेद जाने जा सकें। (गाथा-१२)

तपः—शुभाशुभ इच्छाओं को रोकना अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप में विश्रान्ति; शुद्धरत्नत्रयरूप मुनिपना।

तमः—प्रकाश से विरुद्ध = अंधकार।

त्रसः—त्रसनामकर्म के उदय से दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त जीव।

दर्शनः—सामान्य रूप से निराकार प्रतिभास (—अवलोकन)—दर्शनचेतना।

दिशाः—पूर्व आदि दिशाएँ।

दुरभिनिवेशः—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (—अनिर्धार)

द्रव्यः—जो गुण-पर्याय सहित एवं सत्स्वरूप हो।

द्रव्यबंधः—कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एक क्षेत्र मे जो सम्बंधविशेष।

द्रव्यमोक्षः—आत्मा से ज्ञानावरणीयादि समस्त कर्मो का सम्बन्ध छूट जाना।

द्रव्यसंवरः—द्रव्य आस्रवों का रुकना।

द्रव्यास्रवः—आठ कर्मो के योग्य पुद्गलों का आना।

धर्मः—जो संसार के दुःखोंसे छुड़ाकर मोक्षरूपी उत्तम सुख की

प्राप्ति कराये। सम्यक्रत्नत्रय (शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र) उत्तम क्षमादि वीतरागभाव।

धर्मद्रव्य:—स्वयं गतिरूप परिणत जीव और पुद्गलों को गमन करते समय जो द्रव्य निमित्त है वह, जैसे मछली को पानी।

ध्यान:—सम्यक्ज्ञान द्वारा अपने आत्मा को आत्मा में एकाग्र करना।

ध्रौव्य:—प्रत्यभिज्ञान के कारणरूप द्रव्य की किसी एक अवस्था की नित्यता को ध्रौव्य कहते हैं।

नय:—श्रुतज्ञानप्रमाण का अंश, ज्ञाता का अभिप्राय।

निर्जरा:—बंध का एकदेश अभाव।

निश्चयनय:—भेद, पराश्रय को गौण करके पदार्थ को यथार्थ जानने वाला श्रुतज्ञान का अंश।

निश्चयचारित्र:—निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वरूप में चरना। निजस्वभाव में वर्तन—शुद्ध चैतन्य का प्रकाशन, ऐसा उसका अर्थ है। मोह–क्षोभरहित परिणाम, साम्य, धर्म और चारित्र (–वीतरागभाव) यह सब एकार्थवाचक हैं।

(प्रवचनसार गाथा ७ टीका)

परमध्यान:—मन, वचन, काय के सन्मुख रुके हुए जीव के परिणाम को अंतर्मुख करके निजस्वरूप में स्थिर होना।

परमेष्ठी:—परम (उत्कृष्ट) पद में स्थित अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु–दशा को प्राप्त आत्मा।

[नोट — अरिहन्त और सिद्ध परमात्मत्व आत्मा की पूर्ण-दशा साध्यदशा और मोक्षतत्व है, तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी आत्मा की अपूर्ण निर्मल दशा, साधक दशा (—मोक्षमार्ग—शुद्धरत्नत्रयरूप मुनिपद) और सवर-निर्जरा तत्त्व है। यह पाँचों परमपद आत्मा में से आत्मा के द्वारा आत्मा के आधार से प्राप्त होते हैं]

परीषह:—कर्मों के क्षय हेतु, शुद्ध रत्नत्रयरूप, मोक्षमार्ग से न डिगने के लिये स्वरूप में स्थिर होकर (बाह्य-अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों की उपेक्षा द्वारा) राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना अर्थात् सम्यक्प्रकार से स्वरूप में ज्ञाता-दृष्टारूप से सावधान रहना सो इसका नाम परीषह अथवा परीषहजय है।

परोक्षज्ञान:—जिसमें पांच इन्द्रियाँ और मन निमित्त हैं ऐसा ज्ञान। मति और श्रुत यह दो परोक्षज्ञान हैं।

प्रत्यक्षज्ञान:—इन्द्रियों तथा मन के अवलम्बन के बिना आत्मा अपने स्पष्ट ज्ञान से एकदेश अथवा सम्पूर्णरूप से प्रत्यक्ष जाने वह। उसके तीन भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान।

परमाणु:—अतिसूक्ष्म अणु, जिसका खण्ड न हो सके।

पर्याप्ति:—(१) पूर्णता, (२) पुद्गल परमाणुओं को आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनरूप होने में निमित्तरूप जीव की शक्ति की पूर्णता।

पाप:—जीव के अशुभभाव (—पापभाव) और अशुभभावों से बंधा हुआ कर्म सो द्रव्यपाप है।

पुद्गलद्रव्यः—जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हों वह पुद्गलद्रव्य है।

प्रकृतिबंधः—ज्ञानावरणीयादिरूप पुद्गलकर्मों का स्वभाव।

प्रदेशबंधः—बँधे हुये कर्मपरमाणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्टरूप से—एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप रहना। अथवा उन कर्मों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबंध कहते हैं।

प्रमादः—आत्मस्वरूप की असावधानी अथवा परवस्तु के प्रति उत्साह और शुभाशुभ भाव में वर्तन भी प्रमाद है।

बंधः—आत्मा और कर्मों के प्रदेशों का परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप, सम्बन्धविशेषरूप से रहना।

बाह्यक्रियाः—शुभ और अशुभ वचन तथा काय की क्रिया।

भावआस्रवः—आत्मा के जिस भाव से (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप अशुद्ध परिणाम से) द्रव्य कर्मों का आना हो।

भावनिर्जराः—आत्मा के जिन शुद्ध परिणामों से कर्मों की निर्जरा हो।

भावबंधः—आत्मा के राग-द्वेष-मोहभावरूप विभावपरिणामों की स्निग्धता से आत्मप्रदेशों के साथ द्रव्यकर्मों का संबंध-विशेष हो उस स्निग्ध परिणाम को भावबंध कहा जाता है।

भावसंवरः—आत्मा के शुद्ध परिणाम कि जिनसे द्रव्यकर्मों का आना नहीं होता।

भावमोक्षः—मोक्ष के हेतुभूत परम संवररूप भाव सो भावमोक्ष है। (तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान की दशा को भावमोक्ष कहते हैं।)

भोक्ताः—(१) निश्चयनय से जीव अपने सहज स्वभावरूप शुद्ध-भाव का भोक्ता है।

(२) अशुद्ध निश्चयनय से अघाति कर्मों के उदय से जो भी संयोग आ मिलने पर जीव सुख या दुःख की वृत्ति का वेदन करता है वह जीव अशुद्धभाव का भोक्ता है।

मतिज्ञानः—(१) पराश्रय की बुद्धि छोड़कर दर्शन उपयोग पूर्वक स्वोन्मुखता से प्रगट होने वाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

(२) इन्द्रियां और मन जिसमें निमित्तमात्र हैं ऐसे ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञानः—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को स्पष्ट जान लेना।

मिथ्यात्वः—तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा करना, स्व-पर के एकत्व का अभिप्राय, राग से भला होना मानना।

मार्गणाः—गति-इन्द्रिय-काय आदि चौदह प्रकार के धर्म द्वारा अनेक प्रकार के जीव के भेद जाने जा सकें, अथवा जिसके द्वारा जीवसमूह की खोज हो सके।

मन्त्रः—पंचपरमेष्ठीवाचिक नमस्कार मन्त्र अथवा ध्यान करने के लिये उस प्रकार के ॐ, ह्रीं आदि वचन।

रत्नत्रयः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–मोक्षमार्ग।

लोकाकाश—आकाश के जिस भाग में जीवादि द्रव्य स्थित हैं।

विकलत्रयः—दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, तथा चतुरिन्द्रिय जीव।

विदिशा—ईशान, नैऋत्य, वायव्य और अग्निकोण।

विभ्रमः—(विपर्यय, विपरीत) वस्तु के स्वरूप को विपरीत समझना।

विमोहः—(अनध्यवसाय, अनिर्धार), वस्तु के स्वरूप का कुछ भी निश्चय न करना।

व्ययः—द्रव्य की पूर्व पर्याय के त्याग को व्यय कहते हैं। [प्रत्येक द्रव्य मे निरन्तर-प्रतिसमय नवीन पर्याय (अवस्था) की उत्पत्तिपूर्वक पर्याय का (अप्रगट होने रूप) व्यय होता रहता है।]

व्यवहारकालः—समय, घड़ी, घंटा, मिनट आदि।

व्यवहारनयः—जो गुणगुणी भेद, पराश्रय अथवा संयोग के लक्ष से कारणकार्यादि के भेद बतलाये यह श्रुतज्ञान का अंश।

व्यवहार मोक्षमार्गः—निश्चय मोक्षमार्गी जीव स्वरूप में एकाग्र न रह सके तब श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य,

पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व नव पदार्थों का भेदरूप श्रद्धान ज्ञान और व्रतादिरूप आचरण सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। (जो असद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय है।)

शब्द:—श्रोत्रेन्द्रिय का विषय।

श्रुतज्ञान:—मतिज्ञान से जाने हुये पदार्थ के सम्बन्ध से अन्य पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। तथा आत्मा की शुद्ध अनुभूतिरूप श्रुतज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं।

समनस्क:—संज्ञी—मनसहित जीव, जो हित में प्रवर्तने की तथा अहित से दूर रहने की शिक्षा, क्रिया, उपदेशादि को ग्रहण करता है।

समिति:—(१) निश्चय से अनंत ज्ञानादि स्वभावधारक निज आत्मा में सम्यक्प्रकार से समस्त रागादि विभाव के त्यागपूर्वक आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदि रूप से जो अयन-गमन-परिणमन सो समिति है।

(२) व्यवहार से आचारग्रन्थ-कथित ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग यह पांच समितियां हैं।

समुद्घात:—मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मा के प्रदेशों का विस्ताररूप से बाहर निकलना।

सम्यग्ज्ञान:—संशयादि रहित स्व-पर के निश्चयवाला ज्ञान।

सर्वज्ञ:—तीन लोक, अलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को

एक साथ एक समय मे स्पष्ट—प्रत्यक्ष जानने वाले ।

सर्वसाधु परमेष्ठी:—जो निश्चय सम्यग्दर्शनादि सहित हैं । विरागी वनकर, समस्त परिग्रह छोडकर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके अन्तरंग में उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, परद्रव्य मे अहंबुद्धि धारण नहीं करते, अपने ज्ञानादि स्वभावों को ही अपना मानते हैं, पर भावों में ममत्व नहीं करते, किसी को इष्ट—अनिष्ट मानकर राग द्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा, ऐसी अन्तरंग दशा होने पर वाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं । अट्ठाईस मूलगुणों का अखंडित पालन करते हैं । सर्व मुनियों (—साधु-श्रमणों) के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं, उनके नाम:—

५ महाव्रत (—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह से विरति)

५ समिति (—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापन)

५ इन्द्रियनिरोध (—पांच इन्द्रियों के विषय में इष्ट—अनिष्टपना न होना ।)

६ आवश्यक (—सामायिक, २४ तीर्थंकर अथवा पंचपरमेष्ठी की स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग)

---

[२१]
[२२] केशलोंच, [२३] नग्नता अर्थात् वस्त्ररहित दिगम्बरत्व, [२४] अस्नानता, [२५] भूमिशयन, [२६] दतौन न करना, [२७] खड़े खड़े भोजन, [२८] दिन मे एक वार आहार-जल ।

(आचार्य, उपाध्याय और साधु—यह तीनों निश्चयरत्नत्रय अर्थात् शुद्धोपयोगरूप (मुनिधर्मरूप) जो आत्मस्वरूप का साधन उसके द्वारा अपने आत्मा में सदा तत्पर (सावधान—जागृत) रहते हैं। बाह्य में अट्ठाईस मूलगुणों के धारक होते हैं और उनके पास दया का उपकरण पीछी और शौच का उपकरण कमंडल तथा ज्ञान का उपकरण सुशास्त्र होते हैं। वे शास्त्रकथित ४६ दोष, ३२ अन्तराय, १४ मल दोष से बचाकर शुद्ध आहार लेते हैं और वही मोक्षमार्ग के साधक सच्चे साधु हैं तथा वही गुरु कहलाते हैं। श्री अरिहन्त और सिद्ध भगवान देव हैं, और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु गुरु हैं।]

सिद्धपरमेष्ठीः—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का नाश करके सिद्धालयमें (—लोकाग्र में) स्थित, सम्यक्त्वादि गुणों के धारक, शुद्ध उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हैं और पुनरागमन रहित हैं।

सूक्ष्म स्कंधः—जो दूसरों से बाधा को प्राप्त न हों और दूसरों को बाधा न पहुँचायें, दूसरों से रुकें नहीं तथा दूसरों को रोकें नहीं।

सूक्ष्म एकेन्द्रियः—सूक्ष्म अर्थात् नामकर्म के उदय से प्राप्त सूक्ष्म शरीरी जीव, जिसके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

संस्थान—त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकार।

सशयः—निश्चय रहित अनेक विकल्पों को ग्रहण करने वाला कुज्ञान।

संसारी—मनुष्य, देव, तिर्यंच (—पशु) और नारकी—इन चार गतियों वाले जीव।

स्थावर—पृथ्वीकायिक, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीव को स्थावर अथवा एकेन्द्रिय कहते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय के कारण उन्हें स्थावर कहा जाता है।

स्वदेहपरिमाण—समुद्घात अवस्था को छोड़कर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए अपने छोटे बड़े शरीर प्रमाण रहना।

स्थूल—तिल, बेर आदि एक दूसरे से छोटे बड़े हैं। वे अपेक्षित स्थूल हैं और जो संयोगमात्र रूप दूसरे से बाधा को प्राप्त हों, रुकें तथा दूसरे को बाधा पहुँचायें, रोकें वे वास्तव में स्थूल हैं और उनसे जो विपरीत हैं वे वास्तव में सूक्ष्म हैं।

शास्त्र—जिनमें अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है तथा जो सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बतलाते हैं वे जैन शास्त्र हैं। (मोक्षमार्ग प्रका० पृ० २२८)



भेद-संग्रह

अजीव—५. पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ।

अधिकार—९. जीवत्व, उपयोगमय, अमूर्ति, कर्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध, विस्रसा, ऊर्ध्वगमन ।

अनुप्रेक्षा—१२. अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्म ।

अनंत चतुष्टय—४. अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनतसुख, अनंनवीर्य ।

अष्ट गुण—८. सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व ।

अस्तिकाय—५. जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ।

आस्रव—२. द्रव्य, भाव ।

आस्रव—३२. मिथ्यात्व ५, अविरति ५, प्रमाद १५, योग ३, कषाय ४ ।

आचार—५. दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र, तप ।

इन्द्र—१००. भवनवासी ४०, व्यन्तर ३२, कल्पवासी २४, ज्योतिषी २ (सूर्य, चन्द्रमा), चक्रवर्ती १, सिंह १ ।

इन्द्रियां—५. स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण (श्रोत्र) ।

उपयोग—२. ज्ञान, दर्शन।

उपयोग—१२ ज्ञान ८, दर्शन ४।

एकेन्द्रिय—२. सूक्ष्म, बादर (स्थूल)।

एकेन्द्रिय—५ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक, इन्हें स्थावर कहा जाता है।

कर्म—२. पुण्य, पाप।

कर्म—२. घातिया, अघातिया।

कर्म—८. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय।

काल—२. निश्चयकाल, व्यवहारकाल।

क्रिया—२. अन्तरंग, बाह्य।

गन्ध—२. सुगन्ध, दुर्गंध।

गुणस्थान—१४. मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली।

गुप्ति—३ मन, वचन, काय।

चारित्र—२. बाह्य, अन्तरंग।

चारित्र—५. सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय, यथाख्यात।

छद्मस्थ—४. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान के धारक ।

जीव—५. संसारी, मुक्त ।

जीवसमास—१४. एकेन्द्रिय सूक्ष्म, एकेन्द्रिय बादर, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय—इन सात भेदों को पर्याप्त और अपर्याप्त लगाने से चौदह भेद होते हैं ।

तप—१२. बाह्य ६, अभ्यन्तर ६ ।

त्रसजीव—४. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ।

द्रव्य—२. जीव, अजीव ।

द्रव्य—६. जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ।

दिशा—१०. पूर्व. पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, आग्नेय, नैऋत्य, ऊर्ध्व, अधः ।

धर्म—१०. उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य ।

निर्जरा—२ द्रव्य, भाव ।

नोकर्म—५. औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर ।

पंचेन्द्रिय—२. संज्ञी, असंज्ञी ।

पर्याप्ति—६. आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन ।

परीषह—२२. क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, आसन, वध, आक्रोश, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन ।

पुद्गलकर्म—ज्ञानावरणादि ।

पुद्‌गलगुण—२०. स्पर्श ८, रस ५, रूप ५, गंध २ ।

पापकर्म—८. असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम कर्म, नीच गोत्र और चार घातिया कर्म ज्ञानावरणादि ।

पण्यकर्म—४. सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनामकर्म, उच्चगोत्र ।

प्राण—१०. इन्द्रिय ५, बल ३, आयु, श्वासोच्छ्‌वास ।

बन्ध—४. प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश ।

भावास्रव—५. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ।

भावास्रव—३२ मिथ्यात्व ५, अविरति ५, प्रमाद १५, योग ३, कषाय ४ ।

भावनिर्जरा—२. सविपाक, अविपाक ।

महाव्रत—५. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ।

मार्गणा—१४. गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारत्व ।

मिथ्यात्व—५. विपरीत, एकांत, विनय, संशय, अज्ञान ।

मुनिचारित्र—१३. व्रत ५, समिति ५, गुप्ति ३ ।

मोक्ष—२. द्रव्य, भाव ।

मोक्षमार्ग—२. व्यवहार, निश्चय । (निरूपण अपेक्षा से)

योग—३. मन, वचन, काया के अवलम्बन से आत्मप्रदेशों में योगगुण की अशुद्ध पर्याय, उसका चंचलतारूप कंपन और कर्मग्रहणरूप विकार को योग कहते हैं । सामान्य रूप से वह योग एक प्रकार का है, किन्तु निमित्त के अवलम्बन

की अपेक्षा से मन, वचन, काय के सम्बन्ध से उसके तीन अथवा पंद्रह भेद हैं।

रत्नत्रय—३. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र।

विदिशा—४. ईशान, नैऋत्य, वायव्य, आग्नेय।

व्रत—५. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

विकलत्रय—३. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय।

संवर—२. द्रव्य, भाव।

संवर—७. व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र।

संवर—६२. व्रत ५, समिति ५, गुप्ति ३, धर्म १२, परीषह २२, चारित्र ५।

समुद्घात—७. वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहार, केवल।

समिति—५. ईर्या. भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग।

ज्ञानोपयोगः—२. ज्ञान, अज्ञान।

ज्ञानोपयोग—८. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि (विभंग)।



लघु द्रव्य-संग्रह

छद्दव्व पंचअत्थी सत्तवि तच्चाणि णव पयत्था य।
भंगुप्पाय धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥ १ ॥

अर्थ-जिन्होंने छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का निर्देश (वर्णन) किया है वे श्री जिनेन्द्र देव जयवंत रहें ॥ १ ॥

जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य।
दव्वाणि कालरहिया पदेसबाहुल्लदो अत्थिकाया य ॥ २ ॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं। काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय हैं ॥२॥

जीवाजीवासवबंधसंवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य ॥ ३ ॥

अर्थ-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। यह (सात तत्त्व) पुण्य पाप सहित नौ पदार्थ हैं ॥३॥

जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारिओ णाणा ॥ ४ ॥

अर्थ-जीव (द्रव्य) अमूर्तिक, स्वदेह प्रमाण, चेतना सहित, कर्त्ता और भोक्ता है। वह जीव दो प्रकार के हैं—सिद्ध और संसारी। संसारी जीव अनेक प्रकार के हैं ॥४॥

*अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ—संट्ठाणं ॥ ५ ॥

अर्थ—जो अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द तथा अनिर्दिष्ट संस्थान है (जिसके कोई संस्थान नहीं है), चेतना गुणवाला है, और इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य है, उसे जीव जानो ॥ ५ ॥

वण्ण-रस-गंध-फासा विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा ।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसके वर्ण, रस, गंध तथा स्पर्श विद्यमान हैं, वह मूर्तिक पुद्‌गलकाय, पृथ्वी आदि छह प्रकार का श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा गया है ॥ ६ ॥

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू ।
छव्विह भेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥ ७ ॥

अर्थ—पृथ्वी, जल और छाया, (नेत्रेन्द्रिय को छोड़कर शेष) चार इन्द्रियों के विषय (वायु शब्दादि)-कर्मवर्गणा और परमाणु-ऐसे पुद्‌गल द्रव्य के छह प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं ॥ ७ ॥

---

* समयसार गा० ४९, पंचास्तिकाय गा० १२७, प्र० सार गा० १७२, नियमसार गा० ४९, भावपाहुड गाथा ६४. धवला टीका पु० ३ पृ० २.

[1]गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमण-सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥ ८ ॥

अर्थ—गमन से परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है, जिसप्रकार मछलियों को (गमन मे) जल सहकारी है। (किन्तु) गमन न करने वालों को (स्थिर रहे हुए पुद्गल तथा जीवों को) वह (धर्म द्रव्य) गमन नहीं कराता ॥ ८ ॥

[2]ठाणजुयाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥ ९ ॥

अर्थ—(गतिपूर्वक) स्थित रहे हुए, पुद्गल और जीवों को स्थिर रहने मे सहकारी अधर्मद्रव्य है जिस प्रकार छाया यात्री को स्थिर रहने मे सहकारी है। (किन्तु) गमन करते हुओं को (जीव-पुद्गलों को) वह (अधर्म द्रव्य) स्थिर नही करता है ॥ ९ ॥

[3]अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयास ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥ १० ॥

अर्थ—जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने मे योग्य है, उसे श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया आकाश द्रव्य जानो। उसके दो भेद है—लोकाकाश और अलोकाकाश ॥ १० ॥

---

१. बृ० द्रव्य संग्रह गाथा १७ ।
२. बृ० द्रव्य संग्रह गाथा १८ ।
३. बृ० द्रव्य संग्रह गाथा १९ ।

[1]दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
लोगागासपएसो एक्केकाणु य परमट्ठो ॥ ११ ॥

अर्थ—जो द्रव्यों के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले हैं वे व्यवहार काल हैं। लोकाकाश में प्रदेशरूप से स्थित एक-एक कालाणु परमार्थ (निश्चय) काल है ॥ ११ ॥

[2]लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥१२॥

अर्थ—जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में, रत्नराशि की भांति, (परस्पर भिन्न भिन्न) एक-एक स्थित हैं, वे कालणु असंख्य द्रव्य हैं ॥१२॥

[3]संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे अणंत आयासे।
संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति णो काले ॥१३॥

अर्थ—एक जीव के, धर्म तथा अधर्म द्रव्य के असंख्यात (प्रदेश) हैं, आकाश के अनंत (प्रदेश) हैं, पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश हैं, काल मे (प्रदेश) नहीं हैं। (अर्थात् कालाणु द्रव्य प्रत्येक एकप्रदेशी ही है। उसमें शक्ति अथवा व्यक्ति की अपेक्षा से बहुप्रदेशीपना नहीं है।) ॥१३॥

---

१. बृ० द्रव्य सग्रह गाथा २१, कुछ अंतर सहित।

२. बृ० द्रव्य संग्रह गाथा २२।

३. बृ० द्रव्य संग्रह गाथा २५ का रूपान्तर।

[1]जावदिय आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥१४॥

अर्थ—अविभागी पुद्गलाणु से आकाश का (छोटे से छोटा) जितना भाग रुकता है, उसे प्रदेश जानो, वह (प्रदेश) सर्व (पुद्गल) परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ है ॥ १४ ॥

जीवो णाणी पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य ।
अज्जीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो ॥ १५ ॥

अर्थ—जीव ज्ञानयुक्त हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल अजीव हैं—ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है। ऐसा जो नहीं मानते वे मिथ्यादृष्टि हैं ॥ १५ ॥

मिच्छत्तं हिंसाई कसाय जोगा य आसवो बंधो ।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं ॥१६॥

अर्थ—मिथ्यात्व हिंसादि (अव्रत), कषाय और योगों से आस्रव होता है, कषाय सहित जीव अनेक प्रकार के पुद्गलों का जो परिग्रहण करता है सो बंध है ॥ १६ ॥

मिच्छत्ताई चाओ सवर जिण भणइ णिज्जरादेसे ।
कम्माण खओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य ॥१७॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्रदेव ने मिथ्यात्वादि के त्याग को सवर कहा है। कर्मों का एकदेश क्षय निर्जरा है। और वह निर्जरा अभिलाषा सहित (—सकाम और अविपाक) तथा अभिलाषा रहित (—अकाम और सविपाक) ऐसे दो प्रकार की है ॥१७॥

---

१. वृ० द्रव्य संग्रह गाथा २७ ।

कम्मबंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो ।
सव्वकम्म-विणिम्मुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो ॥ १८ ॥

अर्थ—कर्मों के बंधन से बधे हुए सद्भूत (प्रशस्त) अतरात्मा का जो सर्व कर्मों से पूर्णरूप से मुक्त होना-छूटना सो मोक्ष है- ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है ॥ १८ ॥

सादाऽउ-णामगोदाण पयडीओ सुहो हवे ।
पुण्ण तित्थयरादी अण्ण पावं तु आगमे ॥ १९ ॥

अर्थ.—सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तथा तीर्थंकर आदि पुण्य-प्रकृति हैं. अन्य शेष पाप-प्रकृति हैं—ऐसा परमागम मे कहा ॥ १९ ॥

णासइ णर-पज्जाओ उपज्जइ देवपज्जओ तत्थ ।
जीवो स एव सव्वस्स भंगुप्पाया धुवा एव ॥ २० ॥

अर्थः—मनुष्य पर्याय नष्ट होती है, देवपर्याय उत्पन्न होती है तथा जीव वही का वही रहता है। इस प्रकार सर्व द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं ॥ २० ॥

उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय-णएण (णयण)।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणवुत्ता ॥ २१ ॥

अर्थः—वस्तु में उत्पाद तथा व्यय पर्यायनय से होते हैं, द्रव्यदृष्टि से (वस्तु) नित्य (ध्रौव्य) जानना चाहिए,—ऐसा श्री सर्वज्ञ जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है ॥ २१ ॥

एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता ।
छंडउ रायं रोसं जइ इच्छइ कम्मणो णास (णासं) ॥ २२ ॥

अर्थ—यदि कर्मों का नाश करना चाहते हो तो इस प्रकार सूत्र से अभिगत होकर (–परमागम के ज्ञाता होकर), काय को निश्चल करके तथा मनको स्थिर करके राग और द्वेष को छोड़ो ॥ २२ ॥

विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा ।
झायइ अप्पाणेणं जो सो पावेइ खलु सेयं ॥ २३ ॥

अर्थ—जो आत्मा विषयों मे लगे हुए मन को रोककर अपने आत्मा को अपने द्वारा ध्याता है, वह आत्मा वास्तविक श्रेय को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

सम्मं जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं ।
मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं ॥ २४ ॥

अर्थ—जीवादि को सम्यक् प्रकार से जानकर जिन्होंने उन जीवादि का भली भाँति सम्यक् प्रकार से वर्णन किया है, जो मोहरूपी हाथी के लिए सिंह समान हैं, उन साधुओं को (हमारा) नमस्कार हो, नमस्कार हो ॥ २४ ॥

सोमच्छलेण रइया पयत्थ–लक्खणकराउ गाहाओ ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥ २५ ॥

श्री सोमश्रेष्ठि के निमित्त से भव्य जीवों के उपकार हेतु श्री नेमिचन्द्र आचार्य द्वारा पदार्थों के लक्षण कहने वाली गाथाओं की रचना की गई है ॥ २५ ॥

